दि. जैन तीर्थ निर्देशिका की 75000वीं प्रति का लोकर्पण करते हुए प.पू. ज्ञानमती माताजी एवं प.पू. चन्दनामती माताजी
डॉ. अनुपम जैन, हसमुख जैन गाँधी, प्रदीपकुमारसिंह कासलीवाल, जीवनप्रकाश जैन एवं जे. के. जैन

हा! आज भट्टारक यहाँ रखते परिग्रह भार को,
मृगराज की उपमा अलौकिक मिल रही मार्जार को॥

है धर्मरक्षक नाम, पर ये धर्मभक्षक बन रहे,
संसार के आडम्बरों में ये यों अधिकतर सन रहे।
हैं वस्त्र इनके देख लो रंगीन रेशम के बनें,
पिच्छी-कमण्डलु भी अहो! इनके सदा मनमोहने॥

गद्दे तथा तकिये भरे रहते सुकोमल तूल से,
सादा नहीं आहार करते वे कभी भी भूल से।
बस पुष्टमिष्ट गरिष्ठ ही इनका सदा आहार है,
पड़ती भयंकर रात को इन पर मदन की मार है॥

मुनिधर्म का भी स्वाँग धरना प्रेम से आता इन्हें,
उल्लू बनाना श्रावकों को भी सदा भाता इन्हें।
निज मन्त्रतन्त्रों से डराना दूसरों को जानते,
हा! धर्म के ही नाम पर ये पाप कितना ठानते॥

कर प्रेरणा अत्यन्त ही पूजा करायेंगे कभी,
निःशङ्क तब निर्माल्य, अपना ही बनायेंगे सभी।
पूजा प्रतिष्ठा एक भी होती नहीं इनके बिना,
होती बड़े ही ठाठ से इनकी मनोहर भावना॥

दश पाँच नौकर तो गुरु रखते सदा ही संग में,
हा! हा! रँगे रहते अलौकिक ही निराले रंग में।
ये श्रावकों को दे सकेंगे हाय! कारागार में,
प्रभु ने इन्हें क्या दे दिया है विश्व यह अधिकार में॥

इन काव्य-पंक्तियों में भट्टारकों की कुछ और प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। उदाहरणार्थ, वे जिस श्रावक के घर भोजन करने जाते थे उनसे स्वयं ही भेंट देने की याचना करते थे। श्रावकों को मन्त्र-तन्त्र का भय दिखलाकर अपने आदेश का पालन करवाते थे। उन्हें बड़ी-बड़ी पूजाएँ करवाने के लिए बाध्य करते थे तथा उनमें चढ़ाये गये द्रव्य तथा अन्य सामग्री को अपने साथ ले जाते थे। वे श्रावक को स्वयं पूजा आदि धार्मिक क्रियाएँ नहीं करने देते थे, उनके द्वारा ही करवानी पड़ती थीं।

भट्टारकपीठों की सीमाएँ भी विभाजित होती थीं। एक भट्टारकपीठ की सीमा में दूसरे भट्टारकपीठ की जजमानी नहीं चलती थी। भिन्न-भिन्न संघों के भट्टारक पीठों में परस्पर ईर्ष्या-द्वेष भी चलते थे। जिस नगर में एक से अधिक संघों की भट्टारकगद्दियाँ होती थीं, वहाँ तो निरन्तर कलह मची रहती थी और उनके अनुयायी श्रावकों में मार-पीट तक हो जाती थी।[९९]

४.६. 'जैनाचार्य-परम्परा-महिमा' ग्रन्थ से समर्थन

भट्टारकों के इस राजोजित वैभव-प्रभुत्वमय, वस्त्राभूषणयुक्त, परिग्रही, धर्मशासक-स्वरूप का समर्थन 'जैनाचार्य-परम्परा-महिमा' नामक अप्रकाशित ३४९ श्लोकात्मक ग्रन्थ में वर्णित भट्टारकोत्पत्तिकथा से होता है, जो श्रवणबेलगोल के ३१ वें भट्टारक श्री चारुकीर्ति द्वारा रचा गया है और 'आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार शोध प्रतिष्ठान, लालभवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर-३' में उपलब्ध है। श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी ने इसका विवरण 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' (भाग ३) में पृष्ठ १५२ से १७७ तक दिया है। कुछ अंशों को छोड़कर उसे यहाँ उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत किया जा रहा है—

"**विकट परिस्थितियों में भट्टारक परम्परा का प्रादुर्भाव**—आचार्य माघनन्दी के समय में, कोल्लापुर के राजसिंहासन पर वीरशिरोमणि, राजाधिराज, महाराजा गण्डादित्य आसीन था। उसकी सुविशाल चतुरंगिरणी सेना का सेनापति निम्बदेव नामक सामन्त था। सेनापति निम्बदेव उच्च कोटि का रणनीति-विशारद यशस्वी योद्धा था।

"एक दिन महाराजा गण्डादित्य अपने वशवर्ती राजाओं, सामन्तों एवं प्रधानों के साथ राजसभा में बैठा हुआ था। धर्मचर्चा के प्रसंग में चकवर्ती भरत के वैभव, उनके द्वारा निर्मित करवाये गये चैत्यालयों, प्रतिष्ठाविधि आदि के विवरण सुनकर राजा गण्डादित्य अतीव प्रमुदित हुआ। अवसर के ज्ञाता सेनापति निम्बदेव ने अपने स्वामी को परम प्रसन्न मुद्रा में देखकर उनसे निवेदन किया-"राजराजेश्वर! बड़े-बड़े राजा-महाराजा आपके चरणों में मस्तक झुकाते हैं। आपका ऐश्वर्य एवं वैभव अनुपम है। इस कलिकाल में आप ही चक्रवर्ती हैं। अतः आप भी भरत चक्रवर्ती के समान चैत्यादि का निर्माण, प्रतिष्ठा आदि धर्म कार्यों से जैनधर्म की अभिवृद्धि कीजिये।"

"अपने सेनापति का सुझाव गण्डादित्य को अत्यन्त रुचिकर लगा । उसने अपने पुरोहित एवं प्रधानों को तत्काल आदेश दिया कि चैत्यालयों का निर्माण करवाया जाय।

---

९९. पं० नाथूराम प्रेमी / जैनहितैषी / भाग ७ / अंक ९ / पृष्ठ २४ / आषाढ़, वीर नि० सं०२४३७।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

महाराजा गण्डादित्य के आदेशानुसार स्थान-स्थान पर चैत्यों के योग्य सभी भाँति श्रेष्ठ भूमि के चयन के साथ ही चैत्यों के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया। और इस प्रकार कु छ ही समय में कोल्लापुर नगर के विभिन्न भागों में, महाराज गण्डादित्य की आकांक्षा के अनुरूप कुल मिलाकर ७७० सुन्दर चैत्यों का निर्माण सम्पन्न हुआ। अपनी इच्छा के अनुरूप चैत्य निर्माणकार्य के सम्पन्न होने पर महाराजा गण्डादित्य अपने सेनापति आदि प्रधानों के साथ आचार्य माघनन्दी की सेवा में उपस्थित हुआ। वन्दन-नमन आदि के अनन्तर महाराजा गण्डादित्य ने विनयपूर्वक आचार्य माघनन्दी से निवेदन किया—"काम-क्रोध-मद-मोह-अज्ञान-तिमिर-विनाशक-दिनमणे! पूज्य आचार्यदेव! आपके कृपाप्रसाद से ७७० चैत्यालयों का निर्माण हो चुका है। अब आप विचार कर जैसा उचित समझें, वही करें।"

"आचार्य माघनन्दी ने कहा—"राजन्! इन विषम परिस्थितियों में तुम्हारे इस पाषाण-संग्रह पर क्या विचार किया जाय। इस विपुल व्यय का आखिर फल क्या है?"[१००]

"आचार्य माघनन्दी की बात सुनकर गण्डादित्य भयोद्रेक से क्षण भर के लिए अवाक् रह गया। अपने आपको आश्वस्त कर उसने कहा—"आचार्यप्रवर! इससे बढ़कर अन्य और क्या शुभ काम है? मैं तो इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता। कृपा कर आप ही बताइये । क्योंकि गुरु का उपदेश ही गृहस्थों के लिये मार्गदर्शक, आदर्श और आचरणीय है।"

"गण्डादित्य के मुर्झाये हुए मन को उल्लास से आपूरित करते हुए मन्द मुस्कान के साथ आचार्य माघनन्दी ने कहा—"राजन्! आराधकों के अभाव में, भला आज तक कहीं आराध्य अस्तित्व में रहे हैं? जिनबिम्ब आराध्य हैं और उनकी आराधना के लिए भव्य आराधकों की आवश्यकता सदा रहती है। लोगों को बोध दिया जायगा, तभी तो वे प्रबुद्ध हो जिनदेव के आराधक बनेंगे। यह तो तुम जानते ही हो कि संसार में तीर्थंकर भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई भी भव्य स्वयंबुद्ध नहीं होता। लोगों को धर्म का बोध कराने के लिये साधुओं की, धर्मोपदेशकों की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। भव्यजन-प्रतिबोधक साधुओं के अभाव में लोगों को बोध कैसे होगा और वे जिनाराधक साधक किस प्रकार बनेंगे? साधुओं के अभाव की आज की स्थिति

---

१००. इत्युक्ते नरपाले हि मुनीन्द्रोऽप्यब्रवीत् पुनः।
इदानीमवधार्यं किं तव पाषाणसङ्ग्रहे॥ ११८॥
किमस्ति फलमेतेन व्ययेनेति प्रचोदिते।
----------॥ ११९॥ जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

में बोधक साधुओं को तैयार करना ही जिनशासन की प्रभावना का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है।''[१०१] इस कलिकाल में लोग राजाओं के अधीन होते हैं। आज साधुओं का अभाव होता जा रहा है। अतः ''राजन्! आप आगमज्ञान को धारण करने योग्य सुपात्रों को चुन-चुन कर श्रमणत्व अंगीकार करने के लिये उन्हें प्रेरणा कीजिये। और इस प्रकार साधु तैयार कर जिनशासन की प्रभावना का कार्य करिये।''

''महाराजा गण्डादित्य को अपने आचार्य का इस प्रकार का निर्देश रुचिकर लगा। उसने कुछ विचार कर कहा—''आचार्यदेव! सुपात्र कैसे होने चाहिये? सुयोग्य पात्रों के चयन के पश्चात् उन्हें शास्त्राध्ययन कराने एवं श्रमणत्व अंगीकार करने के लिये किस प्रकार कृतसंकल्प बनाना चाहिये? इस कार्य के निष्पादन के लिये आप कृपा कर मुझे आद्योपान्त पूरी विधि स्पष्टतः समझाइये।''

''आचार्य माघनन्दी ने कहा—''राजन्! शास्त्रज्ञान को धारण करने के लिये योग्य सुपात्र वही है, जो स्वस्थ, निरालस्य, सुतीक्ष्णबुद्धि, उत्कृष्ट स्मरणशक्तियुक्त, सर्वकार्यकुशल, वाक्पटु और बाह्याभ्यन्तर दोनों ही दृष्टियों से विशुद्ध हो। इस प्रकार के सुपात्र को प्राप्त करने का जहाँ तक प्रश्न है, इसमें उत्कृष्ट नीतिनैपुण्य एवं सावधानी से कार्य करने की आवश्यकता है। **सर्वप्रथम ऐसे सुपात्र को सम्मान तथा अनुदान से आकर्षित करने का प्रयास करना चाहिये। यदि सम्मान-अनुदान से भी वह सुपात्र प्राप्त न हो सके, तो उसे फिर किसी व्याज अर्थात् प्रपंचपूर्ण उपाय से येन-केन-प्रकारेण प्राप्त कर ही लेना चाहिए।** क्योंकि इस प्रकार व्याज के माध्यम से उसका प्राप्त करना भी उसके लिए, उसके उज्ज्वल भविष्य के लिए हितकर ही सिद्ध होगा। इस प्रकार संयमसाधना एवं जिनशासन की प्रभावना कर भव्य भक्त देव, देवेन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्र आदि पदों के सौख्योपभोग के अनन्तर अन्ततोगत्वा मोक्ष का अधिकारी भी हो सकता है।''[१०२]

''आचार्य माघनन्दी से इस प्रकार मार्गदर्शन प्राप्त कर गण्डादित्य बड़ा सन्तुष्ट हुआ और सेनापति निम्बदेव एवं प्रधानामात्यादि के साथ राजप्रासाद में लौट आया।

---

१०१. तस्माद् बोधक एवात्र मुख्यं मार्गव्यवस्थितौ।
बोधकेन विना किञ्चिन्न हि कार्यं जगत्त्रये॥ १२५॥
कार्यमस्ति समालोच्यं तद्वच्मि समनन्तरम्।
प्रतिष्ठां कुरु कृत्वैतत् पूर्वं शास्त्रावलम्बनम्॥ १२९॥ जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

१०२. सन्मानमनुदानं वा व्याजान्तरमसाधिते।
ताभ्यां हि तदुपायं भूधवनाथाधिनायक॥ १३३॥
सुरोरगनरेन्द्राणां लब्ध्वा परमवैभवम्।
मोक्षानुगमनं तस्य व्यवस्था नरनायक॥ १३४॥ जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"कतिपय दिनों के अनन्तर महाराजा गण्डादित्य ने एक दिन अपने नगर के श्रावकों को राज्यसभा में ससम्मान आमन्त्रित कर उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—"महानुभावो! आप सब जैनधर्म में प्रगाढ़ निष्ठा रखनेवाले सम्माननीय श्रावक हैं। आप लोग ही वस्तुतः भवभ्रमण से उद्धार करनेवाले धर्म के आधारस्तम्भ हैं। आपके बिना धर्म का अस्तित्व संभव नहीं। क्योंकि बिना आधार के भी भला कहीं, कभी कोई आधेय अस्तित्व में रहा है? इसी कारण आप अपनी पूरी शक्ति के साथ इसके आधारभूत अवलम्बन बने हुए हैं। यह तो आप सभी भली-भाँति जानते ही हैं कि धर्म-प्रभावना, धर्म के अभ्युदय एवं अभ्युत्थान का प्रमुख अंग है और धर्म की प्रभावना शास्त्र के बिना कभी संभव नहीं। शास्त्र भी उसके ज्ञान को धारण करनेवाले सुपात्र के बिना सक्षम नहीं। ऐसी स्थिति में आपको मेरे साथ सहयोग कर शास्त्रों के ज्ञान को धारण करने में पूर्णतः समर्थ सुपात्र उपलब्ध कराने का अन्तर्मन से प्रयास करना चाहिए। यह कार्य निश्चितरूप से स्वर्ग तथा अपवर्ग का सौख्य प्रदान करानेवाला है। सर्वप्रथम मैं स्वयं धर्मसंघ को इस कार्य हेतु अपना पुत्र धर्मसन्तति के रूप में समर्पित करता हुआ आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप लोग भी अपना एक-एक पुत्र धर्मसंघ को धर्मसन्तति के रूप में समर्पित कर धर्मसंघ की, धर्मसन्तति की अभिवृद्धि में सहायक बनें।"

"नृपति गण्डादित्य की इस घोषणा से हर्षोत्फुल्ल हो दण्डनायक ने तत्काल सबको सम्बोधित करते हुए कहा—"सबके अन्तर्मन को आनन्दित कर देनेवाली हमारे नरेश्वर की घोषणा वस्तुतः हम सबके लिये परम कल्याणकारिणी एवं अनुकरणीय है। हमें इसे अपने स्वामी के आदेश के रूप में शिरोधार्य करना चाहिये। मैं भी सहर्ष अपना एक पुत्र संघ को समर्पित करता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि आप सब भी अपना एक-एक पुत्र संघ को समर्पित कर हमारे धर्मनिष्ठ नरेश्वर का अनुसरण करेंगे।"

"अपने महाराजाधिराज और दण्डनायक की बात सुनकर समस्त श्रावक-समूह शोकाकुल हो गया। मन्द-सम्भाषण-पूर्वक परस्पर विचार-विमर्श कर वे श्रावकजन अत्यन्त दैन्यपूर्ण स्वर में कहने लगे—"हे नरनाथ! प्रत्युत्तर देने में तो हम समर्थ नहीं हैं, आपसे केवल प्रार्थना ही करते हैं कि पुत्रों के अतिरिक्त अन्य जो भी आप चाहें, हम से ले लें। संसार के सारभूत पदार्थ-पुत्रों को दे देने के पश्चात् हमारे पास रहेगा ही क्या? इससे तो अच्छा है कि आप हमें ही श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान करवा दीजिये। आप ही हमारे भाग्यनिर्माता हैं।" इस प्रकार सामूहिक रूप से आलाप-संलाप-प्रलाप करते हुए वे सब साष्टांग प्रणाम करते हुए भूमि पर लुण्ठन करने लगे।

"यह देख कर महाराज गण्डादित्य ने तत्काल उन सब श्रावकों को केवल ताम्बूलमात्र प्रदान क र बिदा कर दिया। उन सब को बिदा करने के पश्चात् महाराज गण्डादित्य ने अपने सेनापति निम्बदेव के साथ मन्त्रणा की और वे दोनों इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सम्मान एवं अनुदान से तो अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि होना असंभव प्रतीत हो रहा है, अत: अब किसी अन्य उपाय का आश्रय लेना अनिवार्य हो गया है। कतिपय दिनों तक समुचित उपाय के विषय में सोच-विचार करने के पश्चात् गण्डादित्य को एक उपाय ध्यान में आया। राज्य की एवं प्रजा की सुरक्षा के व्याज (बहाने) से उसने एक सुदृढ़ एवं विशाल गढ़ के निर्माण का कार्य प्रारम्भ करवाया। दिन भर जो निर्माण कार्य होता, उसे रात्रि की निस्तब्धता में नितान्त गुप्त रीति से गिरवा दिया जाता। यही क्रम कतिपय दिनों तक चलता रहा। विश्वस्त लोगों के माध्यम से जनसाधारण में सर्वत्र यह प्रचार करवा दिया गया कि राज्य एवं प्रजा की सुरक्षा के लिये यह गढ़ बनवाया जा रहा है। यह भूमि सर्वलक्षणसम्पन्न किशोरों-युवकों का बलिदान माँगती है। बलिदान न देने के कारण दिन में किया हुआ निर्माणकार्य रात्रि में ढह जाता है।

"इस प्रकार का समुचित प्रचार हो जाने के पश्चात् राजा गण्डादित्य ने अपने दण्डनायक एवं राज्याधिकारियों को आदेश दिया कि प्रजा की सुरक्षा की दृष्टि से परमावश्यक इस गढ़ के निर्माण के लिये सुलक्षण-सम्पन्न बालकों की बहुत बड़ी संख्या में बलि देना अनिवार्य हो गया है। अत: उत्तमोत्तम सुलक्षणों से सम्पन्न बालकों को चुन-चुन कर राजप्रासाद में एकत्रित किया जाय।

"राजा का आदेश होते ही नागरिकों के घरों से सुलक्षणसम्पन्न बालकों को बलात् पकड़-पकड़ कर राजभवन में एकत्रित किया जाने लगा। बलि हेतु अपने-अपने बालक के बलात् पकड़ लिये जाने के कारण उन बालकों के माता-पिता करुण क्रन्दन करने लगे। नगर में सर्वत्र हाहाकार, भय और आतंक का वातावरण व्याप्त हो गया।

"पूर्वनियोजित कार्यक्रम के अनुसार कुछ पुरुषों ने उन विक्षुब्ध एवं करुण क्रन्दन करते हुए मातृपितृवर्ग को आचार्य माघनन्दी के समक्ष अपनी करुण पुकार प्रस्तुत करने का परामर्श दिया। तदनुसार वे सब लोग एकत्रित हो आचार्य माघनन्दी की सेवा में उपस्थित हुए। अपने आचार्यदेव के चरणकमलों में साष्टांग प्रणाम करते हुए उन्होंने करुण स्वर में उनके समक्ष निवेदन करना प्रारम्भ किया—"आचार्य भगवन्! आपकी छत्रच्छाया में रहते हुए भी हमें यह दुस्सह्य दारुण दु:ख क्यों भोगना पड़ रहा है? अब हम इस घोर दु:ख को सहन करने में असमर्थ हैं, अत: अब आप कृपा कर

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"कतिपय दिनों के अनन्तर महाराजा गण्डादित्य ने एक दिन अपने नगर के श्रावकों को राज्यसभा में ससम्मान आमन्त्रित कर उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—"महानुभावो! आप सब जैनधर्म में प्रगाढ़ निष्ठा रखनेवाले सम्माननीय श्रावक हैं। आप लोग ही वस्तुतः भवभ्रमण से उद्धार करनेवाले धर्म के आधारस्तम्भ हैं। आपके बिना धर्म का अस्तित्व संभव नहीं। क्योंकि बिना आधार के भी भला कहीं, कभी कोई आधेय अस्तित्व में रहा है? इसी कारण आप अपनी पूरी शक्ति के साथ इसके आधारभूत अवलम्बन बने हुए हैं। यह तो आप सभी भली-भाँति जानते ही हैं कि धर्म-प्रभावना, धर्म के अभ्युदय एवं अभ्युत्थान का प्रमुख अंग है और धर्म की प्रभावना शास्त्र के बिना कभी संभव नहीं। शास्त्र भी उसके ज्ञान को धारण करनेवाले सुपात्र के बिना सक्षम नहीं। ऐसी स्थिति में आपको मेरे साथ सहयोग कर शास्त्रों के ज्ञान को धारण करने में पूर्णतः समर्थ सुपात्र उपलब्ध कराने का अन्तर्मन से प्रयास करना चाहिए। यह कार्य निश्चितरूप से स्वर्ग तथा अपवर्ग का सौख्य प्रदान करानेवाला है। सर्वप्रथम मैं स्वयं धर्मसंघ को इस कार्य हेतु अपना पुत्र धर्मसन्तति के रूप में समर्पित करता हुआ आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप लोग भी अपना एक-एक पुत्र धर्मसंघ को धर्मसन्तति के रूप में समर्पित कर धर्मसंघ की, धर्मसन्तति की अभिवृद्धि में सहायक बनें।"

"नृपति गण्डादित्य की इस घोषणा से हर्षोत्फुल्ल हो दण्डनायक ने तत्काल सबको सम्बोधित करते हुए कहा—"सबके अन्तर्मन को आनन्दित कर देनेवाली हमारे नरेश्वर की घोषणा वस्तुतः हम सबके लिये परम कल्याणकारिणी एवं अनुकरणीय है। हमें इसे अपने स्वामी के आदेश के रूप में शिरोधार्य करना चाहिये। मैं भी सहर्ष अपना एक पुत्र संघ को समर्पित करता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि आप सब भी अपना एक-एक पुत्र संघ को समर्पित कर हमारे धर्मनिष्ठ नरेश्वर का अनुसरण करेंगे।"

"अपने महाराजाधिराज और दण्डनायक की बात सुनकर समस्त श्रावक-समूह शोकाकुल हो गया। मन्द-सम्भाषण-पूर्वक परस्पर विचार-विमर्श कर वे श्रावकजन अत्यन्त दैन्यपूर्ण स्वर में कहने लगे—"हे नरनाथ! प्रत्युत्तर देने में तो हम समर्थ नहीं हैं, आपसे केवल प्रार्थना ही करते हैं कि पुत्रों के अतिरिक्त अन्य जो भी आप चाहें, हम से ले लें। संसार के सारभूत पदार्थ-पुत्रों को दे देने के पश्चात् हमारे पास रहेगा ही क्या? इससे तो अच्छा है कि आप हमें ही श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान करवा दीजिये। आप ही हमारे भाग्यनिर्माता हैं।" इस प्रकार सामूहिक रूप से आलाप-संलाप-प्रलाप करते हुए वे सब साष्टांग प्रणाम करते हुए भूमि पर लुण्ठन करने लगे।

हम सब को निर्ग्रन्थ श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान कर दीजिये। हमारे प्राणाधार पुत्रों को बलात् पकड़-पकड़ कर राजप्रासाद में बन्द कर दिया गया है। आपने यदि हम पर दया नहीं की, तो आज ही हमारे प्राणप्यारे पुत्रों का बलिवेदी पर बलिदान कर दिया जायेगा। हम सब आपकी शरण में हैं। केवल आप ही हमारी रक्षा करने में समर्थ हैं। हम पर दया कीजिये दयासिन्धो!

"श्रावकों की सब बातें सुनने के पश्चात् आचार्य माघनन्दी ने कहा—"भव्यगण! आप सब बुद्धिशाली श्रावक हो और इस बात को भली-भाँति जानते हो, समझते हो कि राजा ही विपरीत अथवा पराङ्मुख हो जाय, तो उस दशा में किया ही क्या जा सकता है? इतना सब कुछ होते हुए भी आपकी यह विनती भी टाली नहीं जा सकती, इसके लिये कोई न कोई उपाय करना होगा।

"कुछ क्षण चिन्तन—मुद्रा में रह कर आचार्य माघनन्दी ने समागत जनसमूह को आश्वस्त करते हुए कहा—"आप लोग चिन्ता का परित्याग कर मैं जो उपाय बता रहा हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो, जिससे कि तुम्हारे पुत्रों के प्राणों को भी किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचे और तुम्हारी कीर्ति भी संसार में चिरकाल तक स्थायी रहे। आप लोग तो राजा के समक्ष केवल इतना ही कह देना—"राजन्! हम इन बालकों के माता-पिता अपने इन आत्मजों को सदा-सर्वदा के लिये धर्मसन्तति के रूप में श्रमणधर्म की दीक्षा हेतु धर्मसंघ को समर्पित करते हैं।" बस, आप लोगों द्वारा यह कह दिये जाने के अनन्तर शेष कार्य में स्वयं कर लूँगा। इस घोर संकट से बचने का केवल यही एक उपाय मुझे सूझ रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय आपके ध्यान में हो, तो आप लोग बताओ।

"आचार्य माघनन्दी का कथन सबको आशाप्रद, रुचिकर एवं प्रीतिकर लगा। उन सब का शोक क्षण भर में ही तिरोहित हो गया। कृतज्ञतापूर्ण स्वर में उन्होंने कहा—"भगवन्! समस्त कुल को पवित्र करने और संसार में कीर्ति का प्रसार करनेवाला आपका यह सभी भाँति हितकर वचन किसे प्रिय एवं ग्राह्य नहीं होगा? भगवन्! आपका यह सुखद, सुन्दर सुझाव हमें स्वीकार है, आप कृपा कर ऐसा ही करें।

"श्रावक-श्राविकावर्ग की स्वीकारोक्ति सुन कर आचार्य माघनन्दी को अपूर्व आनन्द की अनुभूति हुई। उन्होंने तत्काल महाराजा गण्डादित्य को बुलवाया और कुछ क्षण उसके साथ एकान्त में परामर्श करने के पश्चात् बालकों के मातृ-पितृवर्ग को बुलाकर उनके समक्ष ही राजा गण्डादित्य को सम्बोधित करते हुए कहा—"राजन्! ये धर्मपरायण श्रावक-श्राविका-गण आप जैसे धर्मपरायण राजा के राज्य में भी किस कारण शोकाकुल हो रहे हैं? आप तो दयालु एवं धर्मपरायण हैं। ये सभी लोग अपने-अपने पुत्रों को

श्रमणधर्म में दीक्षित करने के लिये हमें देना चाहते हैं। ऐसी दशा में वे सभी बालक इसी समय से भावोपचाररूप में मुनि ही माने जाने चाहिये। अब आप स्वयं ही सोचिये कि उपचारत: मुनि कहे जानेवाले बालकों की बलिवेदि पर बलि द्वारा हत्या कर आप अपने जैनत्व को किस प्रकार बचाये रख सकेंगे?

"गण्डादित्य ने अपने गुरु आचार्य माघनन्दी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"आचार्यवर्य! आपका कथन तो ठीक है, किन्तु राज्य और प्रजा की सुरक्षा के लिए परम आवश्यक निर्माणाधीन दुर्ग की क्या दशा होगी?

"आचार्य माघनन्दी ने राजा को आश्वस्त करते हुए कहा—"राजन्! मैं मन्त्रशक्ति द्वारा उसका गिरना रोक दूँगा। मेरे ऊपर विश्वास कर आप उस दुर्ग की चिन्ता छोड़ दीजिये।" राजा गण्डादित्य ने कहा—"देव! मुझे आप पर अटूट आस्था है। आप इन बालकों को सहर्ष श्रमणधर्म में दीक्षित कर लीजिये।

राजा द्वारा सहमति प्रकट किये जाने पर तत्क्षण उन सब बालकों को वहाँ लाया गया। स्नान कराने के उपरान्त आचार्य माघनन्दी ने उन्हें पूर्वाभिमुख बैठा कर सब लोगों के समक्ष राजराजेश्वर गण्डादित्य से कहा—"सुनो राजन्! ये सभी बालक महापुरुषों द्वारा धारण की जाती रही श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर रहे हैं। कहाँ तो वैराग्य के रँग में पूर्णत: रँग जाने के कारण प्रबुद्ध, धीर, वीर, गम्भीर पुरुषों द्वारा धारण किये गये पूर्ण अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह नामक अति दुष्कर पंच महाव्रत और कहाँ ये निर्बल सुकुमार बालक? **तथापि देश, काल और शक्ति के अनुसार इन्हें केवल भावनिर्ग्रन्थधर्म की दीक्षा दी जा रही है। ये सब अल्पवयस्क बालक हैं, इसीलिये इन्हें द्रव्य-दीक्षा नहीं दी जा रही है।** सोना, चाँदी, लोह और बैंत के वलयवाले चार प्रकार के पिच्छ माने गये हैं। लीलाप्रिय सहज बालस्वभाववश ये लोग स्वर्ण अथवा रजत-वलय के पिच्छों को इधर-उधर रख कर भूल सकते हैं, अत: इनके लिये बैंत के वलय तथा बैंत की ही डण्डी से युक्त पिच्छ उपयुक्त होंगे। आज तक यह व्यवस्था रही है कि श्रमण-दीक्षा के समय उस श्रमण का नाम वही रखा जाता था, जो कि गृहस्थजीवन में उसका नाम होता था। अब उस व्यवस्था को बदल कर श्रमणत्व अंगीकार कर लेने पर उसका पूर्व नाम न रख कर अन्य नाम रखा जायेगा।[१०३]

---

१०३. तथापि दीयते देशकालशक्त्यनुसारत:। शक्तितस्तप इत्येतत्सर्वसिद्धान्तसम्मतम्॥ १७७॥
एतेषां भावनैर्ग्रन्थ्यमेव शक्ति-प्रचोदितम्। अतिबाला इमे यस्मान्न द्रव्यगमुदीरितम्॥ १७८॥
सौवर्णं राजतं लौहमयं वेत्रान्वितं च वा। मतं वलयपिच्छं हि यथायोग्यं न चान्यथा॥ १७९॥
यस्मादिमे विस्मरन्ति लीलासंकल्पचोदिता:। वेत्रदण्डान्वितं पिच्छं तस्मात्तद्वलयान्वितम्॥ १८०॥

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"इस प्रकार की व्यवस्था के अनन्तर आचार्य माघनन्दी ने उन सब बालकों को द्रव्य मुनिलिंग की दीक्षा न देकर केवल भाव-मुनित्व की ही दीक्षा दी और उच्च स्वर से उसी समय उनका नामपरावर्तन कर दिया। श्रमणधर्म की भाव-दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उन नवदीक्षित मुनियों ने क्रमशः नवीन नाम के उच्चारण के साथ गुरु के द्वारा सम्बोधित किये जाने पर अपने गुरु का वन्दन-नमन किया। आचार्य माघनन्दी ने अपने उन नवदीक्षित ७७० मुनियों को आशीर्वाद दे, उन्हें शास्त्रों का अध्ययन करवाना प्रारम्भ किया।

"तत्पश्चात् आचार्य माघनन्दी ने राजराजेश्वर गण्डादित्य को उन नवनिर्मित ७७० चैत्यालयों की प्रतिष्ठा करने की अनुज्ञा प्रदान की। गण्डादित्य ने स्थान-स्थान पर जाकर अति सुन्दर एवं विशाल तोरणों का निर्माण करवा नगर को सजवाया। सभी मन्दिरों के शिखरों पर इन्द्रध्वज तुल्य ध्वजाएँ लगवाईं। मन्दिरों के मुख्य द्वारों, दीवारों एवं कंगूरों पर रंगबिरंगी नितरां अतीव सुन्दर पताकाएँ लहराने लगीं। तदनन्तर महाराज गण्डादित्य ने पूर्ण ठाट-बाट के साथ उन सभी मन्दिरों की प्रतिष्ठाएँ करवाईं। निम्बदेव ने अभ्यर्थिजनों को यथेप्सित दान दे समस्त संघ एवं प्रजा को भी सभी भाँति सन्तुष्ट किया।

"उन नूतन मुनियों का अध्ययनक्रम निर्बाध गति से उत्तरोतर प्रगति करने लगा। आचार्य माघनन्दी के चरणों में बैठकर उन नये साधुओं ने गणित, छन्द, काव्य, अलंकार, ज्योतिष, वैद्यक, मन्त्र, तन्त्र, शब्दशास्त्र, कवित्व, नाट्यशास्त्र, गमक, वक्तृत्वकला आदि सभी विद्याओं एवं शास्त्रों का बड़ी ही निष्ठा के साथ अध्ययन किया। इस प्रकार वे सब के सब ७७० मुनि सभी विद्याओं के पारंगत प्रकाण्ड विद्वान् बन गये। उन ७७० विद्वान् मुनियों में से १८ मुनि सिद्धान्तशास्त्रों के पूर्ण पारंगत विशिष्ट विद्वान् बने। शेष सभी मुनि तर्कशास्त्र में ऐसे निपुण हो गये कि उनके द्वारा एक वाक्य के उच्चारण मात्र से ही प्रतिवादी घबराने लग जाते थे।

"एक दिन आचार्य माघनन्दी ने महाराजा गण्डादित्य को बुलाकर कहा—"निश्चक्र चक्रवर्तिन्! आपकी सहायता एवं सहयोग से सकल शास्त्रों में निष्णात ये ७७० महाविद्वान् मुनि जिनशासन की सेवा के लिये समुद्यत एवं कृतसंकल्प हैं। जिस प्रकार भरत आदि चक्रवर्तियों ने जिनशासन का उद्धार किया, वस्तुतः उसी प्रकार आपने भी जिनशासन

इयत्कालं मुनीनां हि पूर्वनामसमर्पणम्। न तथेतः परं नामान्तरमेव निरूप्यते॥ १८१॥
इति नामपरावृत्तिं कृत्वा चोच्चमपि स्फुटम्। उत्थायैते हि मुनयो नमस्कुर्वन्तु शीघ्रतः॥ १८२॥
इत्युक्त्वाहूय तान्सर्वान् नामकीर्तनपूर्वकम्। दत्वाशिषं हि कृतवान् शास्त्रारम्भमपि स्फुटम्॥१८३॥
जैनाचार्य-परम्परा-महिमा

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

का उद्धार किया है। आपके द्वारा निर्मित ये ७७० चैत्य आज वस्तुतः प्राकृत शाश्वत चैत्यों के समान धरातल पर सुशोभित हो रहे हैं। देखा जाय तो आपका जन्म सफल हो गया है, आप कृतकृत्य हो गये हैं। वैभव, धैर्य, गाम्भीर्य आदि गुणों में आपके समान और कोई राजा दृष्टिगोचर नहीं होता।

"अब यह सुनिश्चित है कि भविष्य में इस कलिकाल में जिनशासन के प्रति निष्ठा रखनेवाले तथा सत्य-शौच-सदाचारपरायण राजा न होकर किरात, म्लेच्छ, यवन आदि हीन कुलों के दुष्ट राजा होंगे। **भविष्य में श्रावक पूर्व काल की तरह धर्मनिष्ठ एवं सत्यवादी न होकर काल के कुप्रभाव से उन म्लेच्छ राजाओं के दुराचारानुकूल स्वेच्छाचारी, मूर्ख, गुरुनिंदक, महाधूर्त और कुमार्गगामी होंगे। इस प्रकार के मूर्ख, स्वेच्छाचारी एवं कुमार्गगामी श्रावकों पर केवल आचार्य ही अनुग्रह-निग्रहात्मक अनुशासन रख सकेंगे, क्योंकि उस भावीकाल में सन्मार्गगामी राजाओं का अस्तित्व तक भी नहीं रहेगा।**

"**इस प्रकार की अवश्यम्भावी भविष्य की स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए अब आचार्यों के पास सिंहासन, छत्र, चामरादि राजचिह्नों, भृत्यों और चाँदी, सोना आदि धन का होना परम आवश्यक है।** किन्तु यह सब कुछ आपकी सहायता के बिना नहीं हो सकता। अतः आपको ही यह सब व्यवस्था करनी है।[१०४]

"आचार्य माघनन्दि की यह बात सुनकर नृपति गण्डादित्य ने कहा—"**स्वामिन्! दिगम्बरों को यह सब किस प्रकार शोभा देगा?**

"आचार्य माघनन्दी ने कहा—"**सुनो राजन्! प्राचीन काल में तीर्थंकरों के भी छत्र, चामर, आकाश-गमन आदि बहिरंग अतिशय होते थे। इस सम्बन्ध में और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। समय के प्रवाह को दृष्टिगत रखते हुए केवल मत-निर्वाह अर्थात् जैन-धर्म को एक जीवित धर्म रखने के अभिप्राय से ही यह सब कुछ करना परमावश्यक हो गया है।**[१०५]

---

१०४. पार्थिवाज्ञानुगाः सर्वे श्रावका सत्यभाषिताः। जैनमार्गे चरन्त्यैवमुत्तरत्र न ते ततः॥ २०१॥
स्वेच्छाचाररताः मूर्खा वक्राश्च गुरुनिन्दकाः। तदा कुमार्गवशगाः श्रावका कालदोषतः॥ २०२॥
इदानीं श्रावका सर्वे मनुकालमृगोपमाः। भाविनस्ते महाधूर्ताः ह्येतत्कालमृगोपमाः॥ २०३॥
निग्रहानुग्रहौ तेषामाचार्येणैव नान्यथा। यतः सन्मार्गगा नैव वर्तन्ते पार्थिवास्ततः॥ २०४॥
तदर्थं राजचिह्नैश्च भाव्यं भृत्यैर्धनैरपि। आचार्यस्य हि तत्सर्वं, त्वत्सहायेन नान्यथा॥ २०५॥
जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

१०५. गुरुणोक्तं वचः श्रुत्वा नरेन्द्रः पुनरब्रवीत्। स्वामिन्! दिगम्बराणां तच्छोभते कथमित्यपि॥ २०६॥
शृणु राजन् पुरा तीर्थंकरादीनामपि स्थिताः। बहिरङ्गनभोयानचामरादिविभूतयः॥ २०७॥
किं स्याद्बहुप्रसङ्गेन कालशक्त्यनुसारतः। क्रियते मतनिर्वाहसिद्ध्यर्थं न तदिच्छया॥ २०८॥
जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"**भट्टारकपरम्परा के प्रथम आचार्य का पट्टाभिषेक**—गुरुवचनों को शिरोधार्य कर महाराज गण्डादित्य ने उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हुए निवेदन किया—"भगवन्! आपके निर्देशानुसार मैं सब प्रकार की समुचित व्यवस्था कर दूँगा।

"तत्पश्चात् आचार्य माघनन्दी के आदेशानुसार गण्डादित्य ने सकल-आगम-निष्णात प्रकाण्ड विद्वान् मुनि सिंहनन्दी को आचार्यपद पर अभिषिक्त करने की पूर्ण तैयारियाँ कीं। आचार्य माघनन्दी ने (भट्टारकपरम्परा के प्रथम आचार्य के रूप में) सिंहनन्दी को आचार्य-पद पर नियुक्त किया। महाराज गण्डादित्य ने सिंहनन्दी का आचार्यपद पर पट्टाभिषेक किया। **महाराजा गण्डादित्य ने सिंहनन्दी का आचार्यपद पर अभिषेक करते समय उन्हें (आचार्य सिंहनन्दी को) एक अत्युत्तम शिविका (पालकी) रत्नजटित पिच्छ, चँवर और छत्र आदि राजचिह्न प्रदान किये।** विविध वाद्ययंत्रों के घोष के साथ महाराज गण्डादित्य ने आचार्य सिंहनन्दी की नगर में शोभायात्रा निकाल कर उनकी महती प्रभावना की। **तदनन्तर राजा ने आचार्य सिंहनन्दी को विधिवत् चतुर्विध धर्म-संघ के संचालन के सर्वोच्च सत्तासम्पन्न सार्वभौम अधिकार प्रदान किये। महाराजेश्वर गण्डादित्य ने विभिन्न प्रान्तों तथा देश-देशान्तरों के राजा-महाराजाओं, जैनसंघों एवं संघनायकों को घोषणापत्र अथवा अधिकारपत्र भेजे कि आचार्य सिंहनन्दी को मूलसंघ के सर्वोच्च अधिकारसम्पन्न आचार्यपद पर अभिषिक्त किया गया है।**

"इस प्रकार सुदूरस्थ प्रदेशों में भी आचार्य सिंहनन्दी की प्रसिद्धि हो गई कि **ये मूलसंघ के सर्वोच्च सर्वाधिकारसम्पन्न महान आचार्य हैं।**[१०६] इस प्रकार की व्यवस्था से आ० माघनन्दी की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई।[१०७]

---

१०६. इत्युक्तं वचनं श्रुत्वा नत्वा गुरुकुलप्रभुम्। यन्निर्दिष्टं तदिच्छामीत्यब्रवीदति भक्तितः॥ २०९॥
तदाखिलादिशास्त्रज्ञं सिंहनन्दिमुनीश्वरम्। समाहूयाथ पट्टाभिषेकं कृत्वा ततः परम्॥ २१०॥
प्रदाय शिबिकाच्छत्रचामरादिपरिच्छदान्। दत्वा रत्नमयं पिच्छं चामरे च तथाविधे॥ २११॥
कारयित्वा पुरे नानावाद्यैस्तस्य प्रभावनाम्। सर्वाधिकारपदवीं दत्वैवातिप्रभावतः॥ २१२॥
तथा देशान्तरस्थानां नरेन्द्राणां च लेखनम्। भिन्नसंघाधिनाथानामपि प्रेषितवान्मुदा॥ २१३॥
श्री मूलसंघाचार्योऽयमिति सर्वप्रसिद्धिजम्। तदाभून्माघनन्द्यार्यस्यास्य नाम मनोहरम्॥ २१४॥
जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

१०७. श्लोक संख्या २१४ के उत्तरार्द्ध "तदाभून्माघनन्द्यार्यस्यास्य नाम मनोहरम्" से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य माघनन्दी ने अभिनव भट्टारक परम्परा को जन्म देते समय अपने शिष्य सिंहनन्दी को प्रथम भट्टारकाचार्य बनाया और वे स्वयं यथावत् नन्दिसंघ के ही सदस्य बने रहे। इससे सर्वत्र उनका नाम हो गया अर्थात् उनकी कीर्ति फैल गई। वे भट्टारकपरम्परा के जनक थे, पर उसके आचार्य नहीं बने। (सम्पादक)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"**भट्टारकपीठों की सर्वप्रथम स्थापना**—तत्पश्चात् आर्य माघनन्दी ने धर्मसंघ (भट्टारक- सम्प्रदाय) की समुचित व्यवस्था के लिए २५ पीठों की स्थापना की। उन सभी पीठों पर आर्य माघनन्दी ने अपने सुयोग्य एवं शास्त्रज्ञ विद्वान् शिष्यों को पीठाधीशों के पद पर नियुक्त किया। उन पच्चीसों पीठाधीशों को छत्रचामरादि-चिह्नरहित चाँदी के सिंहासन और काष्ठ की पादुकाएँ प्रदान की गईं। उन पच्चीसों ही पीठाधीशों को सम्बोधित करते हुए आचार्य माघनन्दी ने कहा—"**तुम सब लोग आचार्य सिंहनन्दी के सेवक हो।**[१०८] **तुम सब लोग अपने-अपने पीठों पर जाकर जिनशासन का प्रचार-प्रसार करो।**" उन सब ने भी अपने आचार्यदेव की आज्ञा को शिरोधार्य किया और अपने-अपने पीठ पर जाकर वे जिनशासन की सेवा में निरत हो गये।

"एक समय आचार्य सिंहनन्दी अपने विशाल शिष्यसमूह से परिवृत हो विविध वाद्ययन्त्रों की सुमधुर ध्वनियों एवं जय-जयकार के गगनभेदी निर्घोषों के साथ दक्षिण मथुरा गये। वहाँ के महाप्रतापी एवं शौर्यशाली महाराजा राचमल्ल तथा उनके महामात्य चामुण्डराय ने आचार्यश्री की अगवानी करते हुए महामहोत्सव के साथ उनका दक्षिण मथुरा में नगरप्रवेश करवाया। राजाधिराज राचमल्ल ने आचार्यश्री को वहाँ एक चैत्यालय में ठहराया। महाराजा राचमल्ल प्रतिदिन आचार्य सिंहनन्दी के उपदेश सुनता और उनके प्रति अगाध श्रद्धा-भक्ति रखता था। आचार्य सिंहनन्दी दक्षिण मथुरा (मदुरा) में रहते हुए सद्धर्म का अनेक वर्षों तक प्रचार-प्रसार करते रहे। आचार्य सिंहनन्दी के ३०० शिष्यों में प्रमुख शिष्य देवेन्द्रकीर्ति प्रकाण्ड पण्डित और शास्त्रज्ञ थे। सिंहनन्दि के पश्चात् देवेन्द्रकीर्ति को आचार्यपद पर अधिष्ठित किया गया। आचार्य देवेन्द्रकीर्ति का गुरुभ्राता अजितसेन भी विद्वानों में अग्रणी और महान् प्रभावक था। अजितसेन को पण्डिताचार्य के पद से विभूषित किया गया। राजा चामुण्ड-राय सदा उनकी सेवा में उपस्थित रहता था।

"आचार्य देवेन्द्रकीर्ति के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी माघनन्दी (द्वितीय)को आचार्य पद प्रदान किया गया। माघनन्दी (द्वितीय)के पश्चात् उनके पट्टशिष्य नेमिचन्द्र को आचार्य पद पर अभिषिक्त किया गया। आचार्य नेमिचन्द्र ने राजा चामुण्ड को प्रतिबोध दिया।

"**श्रवणबेल्गोल तीर्थ तथा वहाँ मुख्य पीठ की स्थापना**—एक दिन शुभ मुहूर्त में महाराजा चामुण्डराय आचार्य श्री नेमिचन्द्र और उनके शिष्यवर्ग के साथ

---

१०८. राजतं पीठमेतेषां पादुके दारुकल्पिते। छत्रचामरशून्यं तद्राजचिह्नमितीडितम्॥ २१६॥
प्रोक्त्वा तद्दापयित्वाथ तानाहूय मुनीश्वरः। आचार्यसेवका यूयमिति तेषां समब्रवीत्॥ २१७॥
जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

बाहुबली की मूर्ति के दर्शनों की अभिलाषा लिये मदुरापत्तन से पोदनपुर की ओर प्रस्थित हुआ। उसके साथ उसकी विशालवाहिनी और भृत्यगण भी थे। प्रयाण और स्थान-स्थान पर पड़ाव डालकर विश्राम करते हुए वे सब बेल्गोल के पास पहुँचे। बेल्गोल के पास गगनचुम्बी गिरिराज विन्ध्याचल को देख महाराज चामुण्ड ने वहाँ रात्रि-विश्राम के लिए पड़ाव डाला।

"रात्रि की अवसानवेला में राजा चामुण्ड के पूर्वार्जित पुण्यों के प्रताप से नख-शिख (आपात्शीर्ष) शृंगार की हुई सपुत्रा कुष्माण्डिनी देवी ने स्वप्न में चामुण्डराय को दर्शन दे परम प्रसन्न मुद्रा में उससे कहा—"ओ महिप चामुण्डराय! तुम सदल-बल इतनी दूरी पर अवस्थित पोदनपुर तक कैसे पहुँच सकोगे, अर्थात् वहाँ क्यों जा रहे हो? रावण द्वारा अर्चित-पूजित गोम्मटेश की मूर्ति यहीं विन्ध्यगिरि के विशाल शिलाखण्डों से ढँकी हुई विद्यमान है। तुम्हारे द्वारा बाण के प्रयोग मात्र से गोम्मटेश तुम पर प्रसन्न हो जायेंगे और तुम्हें दर्शन दे देंगे।" बस इतना ही कह कर देवी कुष्माण्डिनी अदृश्य हो गई।[१०९]

"सूर्योदय होते ही महाराज चामुण्ड ने आचार्य नेमिचन्द्र को अपना आद्योपान्त स्वप्न सुनाया और उनकी अनुज्ञा प्राप्त कर देवी द्वारा निर्दिष्ट स्थान में बाण चलाया। बाण चलाते ही सब को दर्शन देते हुए गोम्मटेश प्रकट हो गये। तत्काल महाराज चामुण्ड ने गोम्मटेश जिन की पूजा की। आचार्य नेमिचन्द्र ने शास्त्रों से सार ग्रहण कर गोम्मटसार, त्रिलोकसार और लब्धिसार नामक तीन सारभूत उत्तम ग्रंथों की रचना की। वहीं बेल्गोल पत्तन में राजा चामुण्डराय ने भी लोकभाषा में '**त्रिषष्टि (श्लाघ्य) पुरुष पुराण**' नामक पुराण की रचना की।

"बेल्गोल में गोम्मटेश के प्रकट होने, **गोम्मटसार** आदि सारत्रय उत्तम ग्रन्थों के प्रणयन तथा 'त्रिषष्टि पुरुष पुराण' की रचना, इन तीनों कारणों से बेल्गोल पत्तन में दक्षिणाचार्य प्रवर का महासिंहासन स्थापित कर वहाँ भट्टारकपरम्परा का प्रमुख पीठ स्थापित किया गया। श्रवण-बेल्गोल के उस महासिंहासन पर विराजमान आचार्य नेमिचन्द्र सुशोभित होने लगे।[११०]

---

१०९. अस्मिन् विन्ध्याचले स्थूलशिलाखण्डतिरोहितः।
स एव गोम्मटेशोऽस्ति रावणेन समर्चितः॥ २३५॥
बाणप्रयोगमात्रेण प्रसन्नस्तव जायते।
इति वाचं समुद्गीर्य तिरोभूत्वा गता हि सा॥ २३६॥ जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

११०. दक्षिणाचार्यवर्यस्य तस्माद्बेल्गुलपत्तनम्।
महासिंहासनस्थानं जातं सौख्याकरं यतः॥ २४२॥
तद्बेल्गुलमहासिंहासनासीनो मुनीश्वरः।
नेमिचन्द्राख्यसिद्धान्तदेवो गुणनिधिर्बभौ॥ २४४॥ जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"महाराजा चामुण्ड अपने उन आचार्यदेव नेमिचन्द्र के पादप्रक्षालन एवं उनकी अर्चा-पूजा के लिये सदा समुद्यत रहता था। महाराज चामुण्ड ने १,९६,००० (एक लाख छ्यानवे हजार) मुद्राओं की प्रतिवर्ष आयवाला विशाल भूखण्ड गोम्मटेश को भेंट के रूप में सदा-सर्वदा के लिए समर्पित किया।[१११] महाराज चामुण्ड ने श्रवणबेल्गुल में नन्दीश्वर महापूजा आदि अनेक भव्य महोत्सव आयोजित किये। उन महोत्सवों के कारण श्रवणबेल्गुल नगर सदा धर्मनगर का रूप धारण किये रहता था।

"इस प्रकार गोमटेश्वर तीर्थ की स्थापना, श्रवणबेल्गुल में दक्षिणाचार्य के प्रधानपीठ की प्रतिष्ठापना और अनेक महोत्सवों के आयोजनों के पश्चात् चामुण्डराज अपने गुरु दक्षिणाचार्य श्रीनेमिचन्द्र की आज्ञा प्राप्त कर शंखनादों एवं दुन्दुभि आदि नानाविध वाद्यों के निर्घोषों के साथ श्रवणबेल्गुल से सदलबल प्रस्थित हो अपने राज्य की राजधानी दक्षिण मथुरा (मदुरा)पहुँचा और गोमटेश जिन के चरणयुगल का स्मरण करता हुआ न्यायनीतिपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा। महाराज चामुण्ड की सेना में ८००० हाथी, १०,००,००० अश्वारोही और अगणित पदाति सुभट थे।[११२]

"उधर सिद्धान्तदेव आचार्य नेमिचन्द्र श्रवणबेल्गुल में रहते हुए तीर्थ का अभिवर्द्धन एवं धर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे। वे जिनेन्द्रमार्ग के सार्वभौम सर्वोच्च अधिकार एवं सत्ता सम्पन्न अधिनायक आचार्य थे।

"आचार्य श्रीनेमिचन्द्र के पश्चात् कलधौतनन्दी दक्षिणाचार्य के पद पर अधिष्ठित किये गये। आचार्य कलधौतनन्दी के पश्चात् हुए कतिपय दक्षिणाचार्यों के नाम **जैनाचार्य परम्परा महिमा** नामक लघु ग्रन्थ में निम्नलिखित क्रम से दिये गये हैं। ---

"जिस प्रकार रोहणगिरि से अनमोल रत्न निकलते हैं, उसी प्रकार मुनिरत्नों की खान श्रवणबेल्गुल के मुख्य पीठ से अनेक महान् आचार्यों का उदय हुआ। ये सभी आचार्य विपुल विद्यावैभव के धनी और शाप तथा अनुग्रह दोनों ही विद्याओं में सक्षम थे। यह श्रवणबेल्गुल मुख्यपीठ के सिंहासन का ही चमत्कार था कि जो भी मुनि आचार्यपद पर अभिषिक्त हो इस सिंहासन पर बैठता, वही इस सिंहासन की शक्ति से स्वतः ही शापानुग्रह-समर्थ और अद्भुत विद्यावैभव-सम्पन्न हो जाता था।

---

१११. षण्णवत्यन्वितं भक्त्या सहस्रं लक्षपूर्वकम्।
राज्यं चामुण्डभूपालो गोमटेशस्य सन्ददौ॥ २४६॥
नियुतं षण्णवत्युद्धसहस्रान्वितमादरात्।
राज्यं चामुण्डभूपालो, गोमटेशस्य सन्ददौ॥ २४७॥ जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

११२. अष्टौ दन्तिसहस्राणि दशलक्षतुरङ्गमाः।
भटानां गणना नैव तद्भूपालबलाम्बुधौ॥ २५१॥ जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

बाहुबली की मूर्ति के दर्शनों की अभिलाषा लिये मदुरापत्तन से पोदनपुर की ओर प्रस्थित हुआ। उसके साथ उसकी विशालवाहिनी और भृत्यगण भी थे। प्रयाण और स्थान-स्थान पर पड़ाव डालकर विश्राम करते हुए वे सब बेल्गोल के पास पहुँचे। बेल्गोल के पास गगनचुम्बी गिरिराज विन्ध्याचल को देख महाराज चामुण्ड ने वहाँ रात्रि-विश्राम के लिए पड़ाव डाला।

"रात्रि की अवसानवेला में राजा चामुण्ड के पूर्वार्जित पुण्यों के प्रताप से नख-शिख (आपात्शीर्ष) शृंगार की हुई सपुत्रा कुष्माण्डिनी देवी ने स्वप्न में चामुण्डराय को दर्शन दे परम प्रसन्न मुद्रा में उससे कहा—"ओ महिप चामुण्डराय! तुम सदल-बल इतनी दूरी पर अवस्थित पोदनपुर तक कैसे पहुँच सकोगे, अर्थात् वहाँ क्यों जा रहे हो? रावण द्वारा अर्चित-पूजित गोम्मटेश की मूर्ति यहीं विन्ध्यगिरि के विशाल शिलाखण्डों से ढँकी हुई विद्यमान है। तुम्हारे द्वारा बाण के प्रयोग मात्र से गोम्मटेश तुम पर प्रसन्न हो जायेंगे और तुम्हें दर्शन दे देंगे।" बस इतना ही कह कर देवी कुष्माण्डिनी अदृश्य हो गई।[१०९]

"सूर्योदय होते ही महाराज चामुण्ड ने आचार्य नेमिचन्द्र को अपना आद्योपान्त स्वप्न सुनाया और उनकी अनुज्ञा प्राप्त कर देवी द्वारा निर्दिष्ट स्थान में बाण चलाया। बाण चलाते ही सब को दर्शन देते हुए गोम्मटेश प्रकट हो गये। तत्काल महाराज चामुण्ड ने गोम्मटेश जिन की पूजा की। आचार्य नेमिचन्द्र ने शास्त्रों से सार ग्रहण कर गोम्मटसार, त्रिलोकसार और लब्धिसार नामक तीन सारभूत उत्तम ग्रंथों की रचना की। वहीं बेल्गोल पत्तन में राजा चामुण्डराय ने भी लोकभाषा में '**त्रिषष्टि (श्लाघ्य) पुरुष पुराण**' नामक पुराण की रचना की।

"बेल्गोल में गोम्मटेश के प्रकट होने, **गोम्मटसार** आदि सारत्रय उत्तम ग्रन्थों के प्रणयन तथा 'त्रिषष्टि पुरुष पुराण' की रचना, इन तीनों कारणों से बेल्गोल पत्तन में दक्षिणाचार्य प्रवर का महासिंहासन स्थापित कर वहाँ भट्टारकपरम्परा का प्रमुख पीठ स्थापित किया गया। श्रवण-बेल्गोल के उस महासिंहासन पर विराजमान आचार्य नेमिचन्द्र सुशोभित होने लगे।[११०]

---

१०९. अस्मिन् विन्ध्याचले स्थूलशिलाखण्डतिरोहितः।
स एव गोम्मटेशोऽस्ति रावणेन समर्चितः॥ २३५॥
बाणप्रयोगमात्रेण प्रसन्नस्तव जायते।
इति वाचं समुद्गीर्य तिरोभूत्वा गता हि सा॥ २३६॥ जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

११०. दक्षिणाचार्यवर्यस्य तस्माद्वेल्गुलपत्तनम्।
महासिंहासनस्थानं जातं सौख्याकरं यतः॥ २४२॥
तद्वेल्गुलमहासिंहासनासीनो मुनीश्वरः।
नेमिचन्द्राख्यसिद्धान्तदेवो गुणनिधिर्बभौ॥ २४४॥ जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

"महाराजा चामुण्ड अपने उन आचार्यदेव नेमिचन्द्र के पादप्रक्षालन एवं उनकी अर्चा-पूजा के लिये सदा समुद्यत रहता था। महाराज चामुण्ड ने १,९६,००० (एक लाख छ्यानवे हजार) मुद्राओं की प्रतिवर्ष आयवाला विशाल भूखण्ड गोम्मटेश को भेंट के रूप में सदा-सर्वदा के लिए समर्पित किया।[१११] महाराज चामुण्ड ने श्रवणबेल्गुल में नन्दीश्वर महापूजा आदि अनेक भव्य महोत्सव आयोजित किये। उन महोत्सवों के कारण श्रवणबेल्गुल नगर सदा धर्मनगर का रूप धारण किये रहता था।

"इस प्रकार गोमटेश्वर तीर्थ की स्थापना, श्रवणबेल्गुल में दक्षिणाचार्य के प्रधानपीठ की प्रतिष्ठापना और अनेक महोत्सवों के आयोजनों के पश्चात् चामुण्डराज अपने गुरु दक्षिणाचार्य श्रीनेमिचन्द्र की आज्ञा प्राप्त कर शंखनादों एवं दुन्दुभि आदि नानाविध वाद्यों के निर्घोषों के साथ श्रवणबेल्गुल से सदलबल प्रस्थित हो अपने राज्य की राजधानी दक्षिण मथुरा (मदुरा)पहुँचा और गोमटेश जिन के चरणयुगल का स्मरण करता हुआ न्यायनीतिपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा। महाराज चामुण्ड की सेना में ८००० हाथी, १०,००,००० अश्वारोही और अगणित पदाति सुभट थे।[११२]

"उधर सिद्धान्तदेव आचार्य नेमिचन्द्र श्रवणबेल्गुल में रहते हुए तीर्थ का अभिवर्द्धन एवं धर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे। वे जिनेन्द्रमार्ग के सार्वभौम सर्वोच्च अधिकार एवं सत्ता सम्पन्न अधिनायक आचार्य थे।

"आचार्य श्रीनेमिचन्द्र के पश्चात् कलधौतनन्दी दक्षिणाचार्य के पद पर अधिष्ठित किये गये। आचार्य कलधौतनन्दी के पश्चात् हुए कतिपय दक्षिणाचार्यों के नाम **जैनाचार्य परम्परा महिमा** नामक लघु ग्रन्थ में निम्नलिखित क्रम से दिये गये हैं। ---

"जिस प्रकार रोहणगिरि से अनमोल रत्न निकलते हैं, उसी प्रकार मुनिरत्नों की खान श्रवणबेल्गुल के मुख्य पीठ से अनेक महान् आचार्यों का उदय हुआ। ये सभी आचार्य विपुल विद्यावैभव के धनी और शाप तथा अनुग्रह दोनों ही विद्याओं में सक्षम थे। यह श्रवणबेल्गुल मुख्यपीठ के सिंहासन का ही चमत्कार था कि जो भी मुनि आचार्यपद पर अभिषिक्त हो इस सिंहासन पर बैठता, वही इस सिंहासन की शक्ति से स्वतः ही शापानुग्रह-समर्थ और अद्भुत विद्यावैभव-सम्पन्न हो जाता था।

---

१११. षण्णवत्यन्वितं भक्त्या सहस्रं लक्षपूर्वकम्।
राज्यं चामुण्डभूपालो गोमटेशस्य सन्ददौ॥ २४६॥
नियुतं षण्णवत्युद्धसहस्रान्वितमादरात्।
राज्यं चामुण्डभूपालो, गोमटेशस्य सन्ददौ॥ २४७॥ जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

११२. अष्टौ दन्तिसहस्राणि दशलक्षतुरङ्गमाः।
भटानां गणना नैव तद्भूपालबलाम्बुधौ॥ २५१॥ जैनाचार्य-परम्परा-महिमा।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"भट्टारक रामचन्द्र के पश्चात् श्रवणबेल्गुल के सिंहासन पर भट्टारक-शिरोमणि देवकीर्ति हुए। **तदान्तर भट्टारक देवचन्द्र हुए, जिनके द्वार पर छोटिंग नामक यक्ष सदा बैठा रहकर इनके द्वारपाल का कार्य करता था। बैताली सदा इनके चरणयुगल की सेवा करती थी और अनेकों व्यन्तर इनकी पालकी को उठाते थे। अनेक भूतगण उनका आदेश पालने के लिए सदा तत्पर रहते।** देवचन्द्र के पश्चात् उनके शिष्य चारुकीर्ति आचार्यपद पर आसीन हुए। ये चारुकीर्ति भट्टारकों में सूर्य के समान थे। चारुकीर्ति वस्तुतः अद्भुत प्रतिभासम्पन्न थे, अतः इनकी कलिकाल-गणधर के नाम से चारों ओर ख्याति फैल गई थी। महाराजा वल्लाल के प्राणों की रक्षा करने के कारण आपकी यशोपताका सुदूर प्रान्तों तक फहराने लगी थी।

"एकदा महाराजाधिराज वल्लाल के राजप्रासाद में ज्वालामुखी के समान एक भीषण विवर (बिल) प्रकट हुआ। उस बिल में से अग्नि की भीषण ज्वालाएँ निकलने लगीं, बड़े-बड़े अंगारे निकल कर चारों और फैलने लगे। उस बिल में से इतना अधिक धुआँ निकलने लगा कि प्रासाद और गगन-मण्डल उस धुएँ से इस प्रकार छा गया, जैसे कि वर्षाकाल में घुमड़ती हुई घनघटाओं से आकाश आच्छादित हो गया हो। उस बिल से जो प्रलयंकर दृश्य उत्पन्न हुआ, वह इतना बीभत्स था कि उसे देखते ही लोग मूर्च्छित हो जाते थे। उस ज्वालामुखी की शान्ति के अनेक उपाय सोचे गये। मिथ्यादर्शनियों ने उसकी शान्ति का उपाय बताते हुए राजा से कहा कि इस बिल को महिष, बकरों आदि पशुओं के रक्त से भर दिया जाय। बिना पशुओं के रक्त के यह बिल बन्द होनेवाला नहीं है। राजाधिराज वल्लाल इस पापकृत्य के नाम मात्र से काँप उठा। उसने भट्टारक चारुकीर्ति की सेवा में उपस्थित हो संकट से रक्षा की प्रार्थना की। चारुकीर्ति भट्टारक ने कुष्माण्डिनी देवी का आह्वान कर कुष्माण्डों से उस बिल को भर दिया और उस पर सिंहासन जमा कर वे उस पर बैठ गये। तत्काल ज्वालामुखी बिल द्वारा उत्पन्न घोर संकट नष्ट हो गया। अंग आदि अनेक देशों के राजाओं ने साष्टांग प्रणाम कर चारुकीर्ति की स्तुति की और उन्हें 'वल्लालराज सज्जीव रक्षक' के विरुद से विभूषित कर छहों दर्शनों की उपासक सम्पूर्ण प्रजा का स्थापनाचार्य घोषित किया।

"इन भट्टारक चारुकीर्ति के आचार्यकाल में जिनशासन की प्रतिष्ठा पराकाष्ठा पर पहुँच गई। जन-जन के अन्तर्मन पर चारुकीर्ति के नाम की गहरी छाप अंकित हो गई। **चारुकीर्ति के नाम के चमत्कार को दृष्टि में रखते हुए यह नियम बना दिया गया कि कालान्तर में श्रवणबेल्गुल के सिंहासन पर अभिषिक्त होनेवाले सभी भट्टारकों का नाम चारुकीर्ति ही रखा जाय।**" [११३] (जै.ध.मौ.इ./भा.३/पृ.१५२-१६६)।

११३. श्रवणबेल्गुल में अद्यावधि यही नियम प्रचलित है। (सम्पादक)

इस कथा का वर्णन करनेवाले ''जैनाचार्य-परम्परा-महिमा'' नामक ग्रन्थ पर टिप्पणी करते हुए आचार्य हस्तीमल जी लिखते हैं—

''**जैनाचार्य परम्परा महिमा** नामक लघु ग्रन्थ के रचनाकार भी चारुकीर्ति हैं और उन्होंने अपने आपको उन चारुकीर्ति का ३१वाँ पट्टधर बताया है, जिन्होंने कि महाराजा वल्लाल के प्राणों की रक्षा की थी

''**जैनाचार्य परम्परा महिमा** नामक ३४९ श्लोकों के हस्तलिखित लघु ग्रन्थ के आधार पर जो भट्टारकपरम्परा पर प्रकाश डाला गया है, उसमें वर्णित आचार्य माघनन्दी, गण्डरादित्य राज-राजेश्वर, राजा वल्लाल, महासामन्त निम्बदेव, आचार्य माघनन्दी का विशाल शिष्य-परिवार आदि-आदि प्रायः सभी पात्र वस्तुतः ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इस तथ्य को सिद्ध करने वाले पुरातात्त्विक ठोस प्रमाण आज भी उपलब्ध होते हैं। महासामन्त निम्बदेव द्वारा निर्मित कोल्हापुर की 'रूपनारायण वसदि' में तथा कोल्हापुर संभाग के कागल नामक नगर के समीपस्थ होन्नूर के जैनमन्दिर में और कुण्डी-प्रदेशस्थ सांगली विभाग के तेरदाल-नगर के नेमिनाथ-मन्दिर में मिले शिलालेखों से इन सब की ऐतिहासिकता के साथ-साथ भट्टारक-परम्परा के प्रादुर्भाव एवं माघनन्दी, वल्लाल, गण्डरादित्य (गण्डादित्य), निम्बदेव आदि का समय भी ऐतिहासिक आधार पर सुनिश्चित होता है।'' --- (जै.ध.मौ.इ./ भा.३ / पृ.१६७)।

''कोल्हापुर के विभिन्न शिलालेखों में कोल्हापुर, कोलगिर और क्षुल्लकपुर ये ३ नाम उट्टंकित मिलते हैं। कोल्हापुर का क्षुल्लकपुर नाम इस नगर में भट्टारकपरम्परा के प्रादुर्भाव की उस अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना को महत्त्व देते हुए ही रखा गया प्रतीत होता है, जिसका कि उल्लेख मेकेन्जी के संग्रह में उपलब्ध **जैनाचार्य परम्परा महिमा** नाम की हस्तलिखित पुस्तक में विद्यमान है, जो अभी तक प्रकाश में नहीं आई है। **भट्टारकपरम्परा के प्रादुर्भाव पर प्रकाश डालनेवाली उस ऐतिहासिक घटना का विवरण ऊपर प्रस्तुत कर दिया गया है कि आचार्य माघनन्दी, कोल्हापुर-नृपति गण्डरादित्य और उनके महासामन्त सेनापति निम्बदेव की अभिसन्धि से आचार्य माघनन्दी को ७७० (सात सौ सत्तर) कुलीन, कुशाग्रबुद्धि, स्वस्थ, सुन्दर एवं सशक्त किशोर, शिष्यों के रूप में मिले।** सिद्धान्तों एवं सभी विद्याओं का शिक्षण देने से पूर्व ही आचार्य माघनन्दी ने अपने उन ७७० शिष्यों को **भावनिर्ग्रन्थ** दीक्षा देते समय कहा था—

गण्डादित्यनराधीश! शृणु सर्वेऽपि बालकाः।
इमे दीक्षां हि गृह्णन्ति महद्भिः पुरुषैर्धृताम्॥ १७५॥

क्व महाव्रतमेतद्धि सुविरक्तिप्रबोधितैः।
महाधीरैर्धृतं क्वैते बालकाः बलवर्जिताः॥ १७६॥

तथापि दीयते देश-काल-शक्त्यनुसारतः।
शक्तितस्तप इत्येतत्सर्वसिद्धान्तसम्मतम्॥ १७७॥

एतेषां भावनैर्ग्रन्थ्यमेव शक्तिप्रचोदितम्।
अति बाला इमे यस्मान्न द्रव्यगमुदीरितम्॥ १७८॥

सौवर्णं राजतं लौहमयं वेत्रान्वितं च वा।
मतं वलयपिच्छं हि यथायोग्यं न चान्यथा॥ १७९॥

यस्मादिमे विस्मरन्ति लीलासङ्कल्पचोदिताः।
वेत्रदण्डान्वितं पिच्छं तस्मात्तद्वलयान्वितम्॥ १८०॥

जैनाचार्य-परम्परा-महिमा

"सोने, चाँदी और लोहे के वलय से वेष्टित वेत्रदण्डयुक्त पिच्छ हाथ में लिये और **वस्त्र धारण किए हुए भाव-निर्ग्रन्थ-श्रमणधर्म में दीक्षित एक साथ ७७० मुनियों के** विशाल जनसमूह को कोल्हापुर में देखकर हर्षविभोर उपस्थित जनसमूह ने अवश्यमेव कहा होगा—"अहो! आज तो यह कोल्हापुर वस्तुतः क्षुल्लकपुर बन गया है। शिलालेखों में क्षुल्लकपुर के नाम से कोल्हापुर के उल्लेख से भी **जैनाचार्य-परम्परा-महिमा** नामक पुस्तक की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।"--- (जै.ध.मौ.इ./ भा.३ / पृ.१७१-१७२)।

"भट्टारकपरम्परा के पीठाधीश आचार्यों के पास भव्य भवन, भृत्य, भूमि, चल-अचल सम्पत्ति, विपुल धनराशि, छत्र, चामर, सिंहासनादि राजचिह्नों एवं शिविका आदि रखने का भी प्रावधान आचार्य माघनन्दी ने रखा।[११४] (जै.ध.मौ.इ./ भा.३/पृ.१७२)।

"आचार्य माघनन्दी कितने प्रतापी, यशस्वी, लोकप्रिय एवं कुशल प्रभावक आचार्य थे, इस सम्बन्ध में यशस्वी अग्रगण्य पुरातत्त्वविद् विद्वान् स्व० श्री पी० बी० देसाई और **'जैनाचार्य परम्परा महिमा' के शताब्दियों पूर्व हुए रचनाकार भट्टारक चारुकीर्ति (३१वें)** के उल्लेखों में कितना साम्य है, यह द्रष्टव्य एवं माननीय है। स्व० श्री देसाई ने अपनी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कृति—'JAINISM IN SOUTH INDIA & SOME JAINA EPIGRAPHS' के पृष्ठ 121 पर लिखा है—

"Maghanandi of the Roopa Narayan temple of Kolhapur was an eminent personality in the history of Jaina church of this area, & he contributed immensely to the prosperity of the faith by his erudition & efficient administration of the ecelesiastical organisations under him & through the able band of his scholarly desciples, during his long regime of nearly three generations."

११४. देखिए , पादटिप्पणी क्र. १०६, १०७, १०८ (श्लोक २०५-२१३)।

और चारुकीर्ति (३१वें) ने अपनी रचना **जैनाचार्य परम्परा महिमा** में लिखा है—

श्री मूलसङ्घाचार्योऽयमिति सर्व-प्रसिद्धिजम्।
तदाभून्माघनन्द्यार्यस्यास्य नाम मनोहरम्॥ २१४॥

धर्माचाराय कृतवान्पञ्चविंशति - पीठिकाः।
तत्तद्योग्यान्स्थापयित्वा शिष्यान्शास्त्रविशारदान्॥ २१५॥

राजतं पीठमेतेषां पादुके दारुकल्पिते।
छत्र-चामर-शून्यं तद्राजचिह्नमितीडितम्॥ २१६॥

प्रोक्त्वा तद्दापयित्वाथ तानाहूय मुनीश्वरः।
आचार्यसेवका यूयमिति तेषां समब्रवीत्॥ २१७॥

"आचार्य माघनन्दी ने युवावय के अपने ७७० शिष्यों को सिद्धान्तों के साथ-साथ व्याकरण, छन्दशास्त्र, ज्योतिष आदि सभी प्रकार की विद्याओं का उच्चकोटि का प्रशिक्षण दे कर भारत के विभिन्न भागों में २५ भट्टारकपीठ (आचार्यपीठ) स्थापित कर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार और भट्टारकपरम्परा के विस्तार के लिये देश के कोने-कोने में भेजा। माघनन्दी द्वारा बड़े पैमाने पर किये गये उस देशव्यापी सामूहिक अभियान के परिणामस्वरूप मध्ययुग में भट्टारकपरम्परा एक बहुजन-सम्मत सबल संगठन बन गई और देश के अति विशाल भू-भाग पर इसका उल्लेखनीय वर्चस्व छा गया।" (जै.ध.मौ.इ. / भा.३ / पृ.१७३-१७४)।

"इतिहास के विद्वानों, शोधार्थियों एवं इतिहास में अभिरुचि रखनेवालों के लिये यह तथ्य चिन्तनीय, मननीय, पर्यालोचनीय एवं आलोचनात्मक तथा तुलनात्मक सूक्ष्म दृष्टि से विचारणीय है कि **दिगम्बरपरम्परा के परम्परागत श्रमणाचार ही नहीं, अपितु श्रमणवेष का पूर्णतः परित्याग कर देने के उपरान्त भी भट्टारकपरम्परा के मूर्द्धन्य आचार्यों, मण्डलाचार्यों, पीठाधीशों एवं साधुओं ने अपनी परम्परा के नाम मूलसंघ, कौण्डकौण्डान्वय (कुन्दकुन्दान्वय), देशीगण और पुस्तकगच्छ आदि वही रखे, जो दिगम्बरपरम्परा में प्रचलित थे।**

"उदाहरण के लिये आचार्य माघनन्दी का नाम अथवा इनके द्वारा अभिनवरूप में संस्थापित भट्टारकपरम्परा के किसी भी आचार्य का नाम ले लिया जाय, इन सब ने अपनी परम्परा की पहिचान मूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय, देशीगण और पुस्तकगच्छ के नाम से दी है। परन्तु क्या कोई भी इतिहास का विद्वान् इस परम्परा के प्राचीन आचार्यों और आचार्य माघनन्दी तथा उनके द्वारा स्थापित भट्टारकपरम्परा के आचार्यों को एक

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ही परम्परा के आचार्य मानने को तैयार है? कभी नहीं। इस भट्टारकपरम्परा के आचार्यों ने और स्वयं आचार्य माघनन्दी ने मन्दिरों, वसदियों, मठों आदि का **पौरोहित्य** किया, साधुओं के आहार आदि की व्यवस्था के लिए, मन्दिरों, वसदियों के निर्माण, पुनर्निर्माण, जीर्णोद्धार अथवा पूजा-अर्चा आदि की व्यवस्था के लिये ग्रामदान, भूमिदान, द्रव्यदान आदि ग्रहण किये। इन आचार्यों द्वारा ग्रहण किये गये ग्रामदान, भूमिदान आदि दान का प्राचीन अभिलेखों से विस्तृत विवरण तैयार किया जाय, तो हजारों पृष्ठ की पुस्तक भी अपर्याप्त रहेगी। **इस प्रकार दान ग्रहण करनेवाले, मठों, मन्दिरों एवं वसदियों में नियतनिवास करने और स्वर्ण-सिंहासन, छत्र-चामरादि का उपभोग करनेवाले भट्टारकपरम्परा के आचार्यों और गिरि-गुहाओं में साधनापूर्ण जीवन जीनेवाले निष्परिग्रही आचार्यों को एक ही परम्परा का मानना वस्तुतः उन निष्परिग्रही आचार्यों के साथ अन्याय होगा।**" (जै.ध.मौ.इ./ भा.३ / पृ.१७४-१७५)।

आचार्य माघनन्दी का समय—"उपलब्ध शिलालेखों में सर्वप्रथम आचार्य माघनन्दी का नाम एक प्रख्यात एवं समर्थ मण्डलाचार्य के रूप में सांगली क्षेत्र के तेरदाल नगर के भगवान् नेमिनाथ के मन्दिर में रट्टवंशीय मुख्य माण्डलिक गोंक द्वारा दिये गये भूमिदान के शिलालेख में अंकित है। इस मन्दिर के निर्माण के पश्चात् इसकी प्रतिष्ठा के अवसर पर रट्टवंशीय राजा कार्त्तवीर्य द्वितीय और कोल्हापुर के लोकविश्रुत मण्डलाचार्य माघनन्दी को विशेषरूप से तेरदाल में आमन्त्रित किया गया था और वे दोनों ही उक्त शिलालेख के उल्लेखानुसार उस प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय तेरदाल में उपस्थित हुए थे। इस शिलालेख पर वर्ष विक्रम सं० ११८० तदनुसार ई० सन् ११२३-२४ अंकित है। **इससे सिद्ध होता है कि आचार्य माघनन्दी की कीर्ति ईसा की १२वीं शताब्दी के प्रारम्भ से पूर्व ११वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ही फैल चुकी थी।** उस समय वे कोल्हापुर की रूपनारायण वसदि के अधिष्ठाता और कोल्हापुर राज्य के साथ-साथ उसके आस-पास के विशाल क्षेत्र के मण्डलाचार्य अर्थात् सत्तासम्पन्न प्रभावशाली आचार्य थे। रूपनारायण वसदि का निर्माण कोल्हापुर के शिलाहार-वंशीय राजा गण्डरादित्य के महासामन्त निम्बदेव ने तेरदाल में गोंक द्वारा निर्मापित नेमिनाथ के मन्दिर से पर्याप्त समय पूर्व करवाया था। रूपनारायण वसदि के निर्माण के पश्चात् निम्बदेव ने कोल्हापुर के कवड़ेगोल्ला बाजार में भगवान् पार्श्वनाथ का मन्दिर भी बनवाया, इस प्रकार का उल्लेख कोल्हापुर के शुक्रवारी दरवाजे के पास मिले एक शिलालेख में है। इस शिलालेख में इस मन्दिर की सर्वांगीण सुव्यवस्था के लिये व्यापारियों के **अय्यावले ५००** नामक महासंघ ने अपने व्यापार की दैनन्दिन आय के अंश का दान वि० सं० ११९२ में सदा के लिये रूपनारायण वसदि के तत्कालीन अधिष्ठाता आचार्य श्रुतकीर्ति को दिया, जो कि मण्डलाचार्य माघनन्दी के शिष्य थे।

''उपर्युक्त दोनों शिलालेखों की तिथियों के सम्बन्ध में विचार करने पर विकम सं० ११८० तक आचार्य माघनन्दी की विद्यमानता और वि० सं० ११९२ से पूर्व उनका स्वर्गगमन अनुमानित किया जा सकता है।

''कोल्हापुर के शिलाहारवंशीय महाराजा गण्डरादित्य और उनके महासामन्त सेनापति निम्बदेव का समय भी कोल्हापुर एवं उनके आस-पास के तेरदाल से उपलब्ध हुए शिलालेखों से ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से ई० सन् ११४३ के पहले तक का अनुमानित किया जा सकता है। क्योंकि तेरदाल के ई० सन् ११२३-२४ के शिलालेख में तेरदाल में नेमिनाथ-मन्दिर की प्रतिष्ठा के अवसर पर माघनन्दी के साथ इन दोनों का उल्लेख है। कोल्हापुर के शुक्रवारी मुख्यद्वार के समीप से उपलब्ध हुए ई० सन् ११४३ के शिलालेख में दानदाता के रूप में गण्डारादित्य के स्थान पर उसके पुत्र महाराजा विजयादित्य का उल्लेख है। इससे गण्डरादित्य और निम्बदेव का समय ई० सन् ११२३ से ११४३ के बीच का तो पूर्णरूपेण सुनिश्चित ही है।

''इन सब पुरातात्त्विक साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर आनुमानिक-रूपेण यह सिद्धप्रायः हो जाता है कि आचार्य माघनन्दी, महाराजा गण्डरादित्य और महासामन्त निम्बदेव की अभिसन्धि के परिणामस्वरूप जिन ७७० किशोरों को **सवस्त्र श्रमण के रूप में दीक्षित कर** उन्हें उच्चकोटि का शिक्षण दे, उनमें से योग्यतम मुनियों को अनुक्रमशः मुख्य भट्टारकपीठ तथा विभिन्न प्रदेशों में नवसंस्थापित पच्चीस (२५) भट्टारकपीठों के भट्टारकपद पर प्रतिष्ठित-अधिष्ठित किये जाने की **यह आत्यन्तिक ऐतिहासिक महत्त्व की घटना ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से बारहवीं शताब्दी के प्रथम दशक के बीच के किसी समय में घटित हुई।**''--- (जै. ध. मौ. इ. / भा. ३ / पृ.१७५-१७६)।

''**राजाओं के समान ही छत्र, चामर, सिंहासन, रथ, शिविका, दास-दासी, भूमि-भवन आदि चल-अचल सम्पत्ति और विपुल वैभव के धनी भट्टारक** अपने-अपने पीठ से विद्या के प्रसार के साथ **धार्मिक शासक के रूप में** जैनधर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे। उन भट्टारकपीठों द्वारा संचालित विद्यापीठों में शिक्षाप्राप्त स्नातकों ने धर्मप्रचार के क्षेत्र के समान ही साहित्यनिर्माण के क्षेत्र में भी अनेक उल्लेखनीय कार्य किये। **जैनधर्म के मूल स्वरूप में, श्रमणों के शास्त्रीय, मूल, विशुद्ध स्वरूप में विकृतियों के सूत्रपात्र के लिए उत्तरदायी होते हुए भी भट्टारकपरम्परा द्वारा किये गये इन सब कार्यों का लेखा-जोखा करने के पश्चात् यदि यह कहा जाय कि एक प्रकार के उस संक्रान्तिकाल में भट्टारकपरम्परा ने जैनधर्म को एक जीवित**

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

धर्म के रूप में बनाये रखने में बड़ा ही श्लाघनीय कार्य किया, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। (जै.ध.मौ.इ./भा.३/पृ.१७७)।

४.७. उपर्युक्त कथा की समीक्षा

यद्यपि बलिदान-भय के छल-कपट से समर्पित कराये गये ७७० बालकों को अनागमोक्त, नवकल्पित, सवस्त्र, **भावनिर्ग्रन्थ** बनाने की यह कथा विश्सनीय नहीं है, यह जैनधर्म के प्राणभूत अहिंसा-सिद्धान्त के विरुद्ध है तथा प्रत्याख्यानावरणकषाय के क्षयोपशम एवं वस्त्रादिपरिग्रहत्याग के अभाव में **भावनैर्ग्रन्थ्य** असम्भव है, तथापि इससे दो तथ्य सामने आते हैं, एक तो यह कि राजोचित वैभव और प्रभुत्व से सम्पन्न सर्वांगवस्त्रधारी धर्मशासकों या धर्मगुरुओं के रूप में ही भट्टारकसम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ, दूसरा यह कि भट्टारकसम्प्रदाय की उत्पत्ति १२वीं शताब्दी ई० से पूर्व नहीं हुई।

संक्षेप में **अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी धर्मगुरु भट्टारकों के असाधारणधर्म** (लक्षण) इस प्रकार हैं—

१. दीक्षाविधि द्वारा भट्टारकपद पर प्रतिष्ठापन।

२. अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग-ग्रहण।

३. धर्मगुरु एवं पण्डिताचार्य के अधिकारों का आरोपण।

४. दक्षिणा, चढ़ावा, भेंट, शुल्क, कर आदि से अर्थोपार्जन।

५. राजोचित ऐश्वर्य एवं प्रभुत्वमय निरंकुश जीवनशैली।

मठ में नियतवास भट्टारकों का असाधारण धर्म नहीं है, क्योंकि पासत्थादि मुनि भी मठादि में नियतवास करते हैं। हाँ, यह उनका अनिवार्य धर्म अवश्य है।

५

मन्दिरमठवासी-मुनिपरम्परा भट्टारक-परम्परा नहीं

आचार्य हस्तीमल जी और कुछ दिगम्बर विद्वानों ने[११५] मन्दिरमठवासी दिगम्बर मुनियों के सम्प्रदाय को भी भट्टारकसम्प्रदाय का कहा है। यह समीचीन नहीं है। यद्यपि जो गृहस्थकर्म पासत्थादि-मुनि करते थे, वे भट्टारकों द्वारा भी किये जाते हैं, जैसे मठवास,

---

११५. क— मिलापचन्द्र कटारिया : जैन निबन्ध रत्नावली/भाग १/पृ० ४३०।
ख—'भट्टारकसम्प्रदाय' ग्रन्थ के कर्त्ता प्रो० जोहरापुरकर ने धवलाकार वीरसेन स्वामी तथा उनके शिष्यों को भट्टारकसम्प्रदाय का बतलाया है।

भूमिग्रामादिदान-ग्रहण, मन्दिरमठ की सम्पत्ति का प्रबन्ध और उपभोग इत्यादि, तथापि वे सम्प्रदायविशेष के व्यक्ति की सूचक 'भट्टारक' संज्ञा के हेतु नहीं हैं, क्योंकि उनके कारण पासत्थादि-मुनियों के लिए 'भट्टारक' संज्ञा प्रचलित नहीं हुई। उनके लिए 'भट्टारक' संज्ञा का प्रचलित न होना ही इस बात का अखण्ड्य प्रमाण है कि उनके गृहस्थकर्म 'भट्टारक' संज्ञा के हेतु नहीं थे। यदि होते, तो जैसे ईसा की १२वीं शताब्दी में अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग धारण कर धर्मगुरुपद हथियानेवाले तथा 'स्वामी', 'जगद्गुरु', 'कर्मयोगी', पण्डिताचार्य इत्यादि उपाधियों से अपनी महिमा बढ़ानेवाले भट्टारकों के लिए 'भट्टारक' संज्ञा अकस्मात् प्रचलित हो गयी, वैसे ही पासत्थादि-मुनियों के लिये भी प्रचलित हो जाती। इससे सिद्ध है कि पासत्थादि-मुनियों के गृहस्थकर्म 'भट्टारक' संज्ञा के हेतु नहीं थे। आचार्य श्री हस्तीमल जी के मत का निरसन नीचे किया जा रहा है। उस के निरसन से दिगम्बरजैन विद्वानों का वैसा ही मत स्वतः निरस्त हो जाता है।

५.१. आचार्य हस्तीमल जी के मत का निरसन

प्रस्तुत अध्याय के द्वितीय प्रकरण (शी.१) में आचार्य श्रीहस्तीमल जी के विचार उद्धृत किये गये हैं। उन्होंने बतलाया है कि इतिहास में भट्टारकपरम्परा के तीन रूप उपलब्ध होते हैं। प्रथम रूप का विकास वीरनिर्वाण के ६०९ वर्ष बाद (ई० सन् ८२ में) ही हो गया था, जब मुनियों ने चैत्यवास शुरू कर दिया था और भूमिग्रामस्वर्णादि का दान ग्रहण करने लगे थे। वीर निर्वाण की नौवीं शताब्दी (तृतीय शताब्दी ई०) के अन्तिम चरण में भट्टारकपीठ स्थापित होने लगे, राज्याश्रय प्राप्त किया जाने लगा और मंत्र-तंत्र, ज्योतिष-औषधि आदि के प्रयोग से जनमानस को अपने अधीन किया जाने लगा। यह भट्टारकपरम्परा का द्वितीय रूप था। ईसा की १२वीं शताब्दी में उक्त मुनियों ने मुनिलिंग त्याग दिया और वस्त्रधारण कर मठों में रहते हुए उपर्युक्त सभी कार्य करते रहे तथा श्रावकों के नये प्रकार के धर्मगुरु भी बन गये। यह भट्टारकपरम्परा का तृतीय और वर्तमान रूप है।

आचार्य जी ने भट्टारकरपरम्परा के विकास के जो ये तीन रूप बतलाये हैं, वे अप्रामाणिक हैं। कुछ मुनियों में चैत्यवास, भूमिग्रामादिदान-ग्रहण, मंत्र-तंत्र ज्योतिष-औषधि के प्रयोग द्वारा ख्यातिलाभ-जीविकोपार्जन आदि की प्रवृत्तियाँ सदा रही हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने इन्हें अनादिकालीन कहा है। (भावपाहुड/गा.१४)। इनका आश्रय लेनेवाले मुनियों को आगम में पासत्थ, कुसील आदि नामों से अभिहित किया गया है। (देखिये, इसी प्रकरण का पूर्व शीर्षक ३)। इसलिए जैनपरम्परा के मुनियों में इन प्रवृत्तियों का विकास वीरनिर्वाण के ६०९ वर्ष बाद मानना प्रामाणिक नहीं है। अनादिकालीन होने से इन्हें विकसित नहीं माना जा सकता। और यदि विकसित भी

माना जाय, तो इन्हें भट्टारकपरम्परा के विकास का प्रथम या द्वितीय रूप नहीं कहा जा सकता, अपितु पासत्थादि-मुनिचरित्र का ही विकास कहा जा सकता है, क्योंकि पिच्छी-कमण्डलु के साथ नाग्न्यलिंग 'मुनि' संज्ञा का ही हेतु है। उपर्युक्त प्रवृत्तियोंवाले मुनिलिंगधारियों का सम्प्रदाय भ्रष्टमुनिसम्प्रदाय तो कहला सकता है, किन्तु भट्टारकसम्प्रदाय नहीं, जिस प्रकार वह श्रावक-सम्प्रदाय नहीं कहला सकता।

एक बात ध्यान में रखने की है कि भट्टारकसम्प्रदाय में भ्रष्टमुनि-प्रवृत्तियाँ नहीं होतीं, जब कि पासत्थादि मुनियों में होती हैं। भट्टारक वस्त्रधारी होने से गृहस्थों की श्रेणी में आते हैं। अतः मठ आदि में नियतवास, मन्दिर के प्रबन्ध के लिए भूमिग्रामादिदान का ग्रहण, उनका उपयोग और प्रबन्ध तथा मन्दिर-तीर्थ आदि की व्यवस्था, ये प्रवृत्तियाँ भट्टारकपद के विरुद्ध नहीं हैं, जब कि मुनिपद के विरुद्ध हैं। अतः इन गृहस्थ-प्रवृत्तियों को अपनाने के कारण मुनि तो आचारभ्रष्ट हो जाते हैं, किन्तु भट्टारक नहीं। इसलिए पासत्थादि-मुनियों के सम्प्रदाय को भट्टारकसम्प्रदाय नहीं कहा जा सकता। जो भी दिगम्बरमुनि चैत्यवास, भूमिग्रामादिदान-ग्रहण जैसी गृहस्थ-प्रवृत्तियाँ अपनाता है, वह पासत्थादि-मुनि ही कहला सकता है, भट्टारक नहीं। भट्टारक पासत्थादि-मुनियों जैसा भ्रष्ट नहीं होता, क्योंकि जिनलिंगधारी न होने से उसकी गृहस्थप्रवृत्तियाँ मुनिधर्मविरुद्ध नहीं होतीं। आचार्यों ने कहा हे कि अन्यलिंग में रहकर किया गया पाप तो जिनलिंग धारण करने से छूट जाता है, किन्तु जिनलिंग में रहकर किया गया पाप वज्रलेप हो जाता है। (देखिये, इसी प्रकरण का पूर्व शीर्षक ३.६)।

यतः भट्टारकीय प्रवृत्तियाँ पासत्थादिमुनि-प्रवृत्तियों के समान धोरपापात्मक नहीं होतीं, अतः यह कहना सर्वथा अयुक्तिसंगत है कि पासत्थादिमुनियों का सम्प्रदाय भी भट्टारकसम्प्रदाय था या उसका एक रूप था।

दिगम्बरजैन-परम्परा में सम्प्रदायविशेष के व्यक्ति के अर्थ में 'भट्टारक' नाम उन पुरुषों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो दिगम्बरमुनिलिंग धारण न करते हुए भी पिच्छी-कमण्डलु-सहित एक नया अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग धारण कर श्रावकों के धर्मगुरु बनने लगे थे। इसलिए पासत्थादिमुनि-चरित्र और भट्टारकचरित्र में महान् अन्तर है। **पासत्थादिमुनि 'मुनि' होते हुए भी गृहस्थकर्म अपनाते हैं और भट्टारक गृहस्थ होते हुए भी (यद्यपि वे विवाहित नहीं होते) मुनिकर्म (धर्मगुरु का कर्म) करने लगते हैं।** इसलिए मन्दिरमठ में नियतवास, भूमिग्रामादिदान-ग्रहण, उनका प्रबन्ध और उपयोग, मन्दिरमठ आदि का व्यवस्था, ये गृहस्थकर्म भट्टारकचरित्र की विशेषताएँ नहीं हैं, अपितु गृहस्थ होते हुए भी और सिंहासन, पालकी, छत्र, चँवर आदि राजसी ठाठ-बाट का उपभोग करते हुए भी, पिच्छी-कमण्डलु-सहित अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग धारण कर

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

दिगम्बरपरम्परा में एक नये प्रकार के अदिगम्बर साधु जैसी अपनी छवि दर्शाना तथा श्रावकों के धर्मगुरुपद पर आसीन होना भट्टारकचरित्र की विशेषताएँ हैं। मुनि-एलक-क्षुल्लक न होते हुए भी अर्थात् सवस्त्र गृहस्थावस्था में रहते हुए भी भट्टारकों का पिच्छी-कमण्डलु रखना तथा धर्मगुरु के पद पर आसीन होना, ये दोनों प्रवृत्तियाँ आगम-विरुद्ध हैं। **इस प्रकार पासत्थादिमुनि-चरित्र में गृहस्थकर्म का प्रवेश आगमविरुद्ध है और भट्टारक-चरित्र में मुनिकर्म का समारोपण आगमविरुद्ध है।** फलस्वरूप दोनों चरित्र परस्पर विपरीत हैं। इससे सिद्ध है कि आचार्य श्री हस्तीमल जी ने वीरनिर्वाण के ६०९ वर्ष बाद तथा वीरनिर्वाण की नौवीं शताब्दी के अन्तिमचरण में कतिपय दिगम्बरमुनियों में दिखायी देनेवाली चैत्यवासादि जिन प्रवृत्तियों को भट्टारकीय प्रवृत्तियाँ कहा है, वे भट्टारकीय प्रवृत्तियाँ नहीं थीं, बल्कि पासत्थदिमुनि-प्रवृत्तियाँ थीं।

यद्यपि पासत्थादि-मुनियों ने ही ईसा की १२वीं शती में भट्टारकपरम्परा का आरम्भ किया था, तथापि वह तब हुआ था, जब उन्होंने मुनिलिंग त्यागकर पिच्छी-कमण्डलु के साथ एक ऐसा सवस्त्रलिंग धारण कर लिया था, जो मुनि, एलक, क्षुल्लक एवं सामान्य श्रावकों के लिंग से भिन्न था और जिससे वे दिगम्बर-सम्प्रदाय में एक नये प्रकार के अदिगम्बर साधु जैसे दिखते थे तथा जिसकी सहायता से वे श्रावकों के नये प्रकार के धर्मगुरु, धर्माधिकारी अथवा धर्मशासक बनने में सफल हुए। (देखिये, इसी प्रकरण का पूर्व शीर्षक ३)।

यदि भट्टारकों ने पासत्थादि साधुओं के केवल गृहस्थकर्म अपनाये होते और अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग ग्रहण न किया होता तथा धर्मगुरुपद न हथियाया होता, तो उनके लिए 'भट्टारक' जैसा पूज्यता-द्योतक नाम प्रसिद्ध न हुआ होता। वे मात्र 'मठमन्दिर-प्रबन्धक' ही कहलाते। अतः **अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग तथा धर्मगुरुपद, ये दो ही तत्त्व भट्टारकों के 'भट्टारक' नाम से प्रसिद्ध होने के हेतु हैं।** पासत्थादि-मुनियों के धर्मगुरुपद के साथ अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग नहीं था, इसलिए वे 'भट्टाकर' शब्द से प्रसिद्ध नहीं हुए, 'मुनि' शब्द से ही प्रसिद्ध रहे। आज भी सम्मेदशिखर आदि तीर्थक्षेत्रों में मन्दिर-मठ बनाकर नियतवास करनेवाले तथा आहार-दान, मन्दिर-निर्माणादि के नाम से दान माँगनेवाले दिगम्बरमुनि पासत्थादि साधु ही हैं, किन्तु वे मुनि ही कहलाते हैं, भट्टारक नहीं।

५.२. 'भट्टारक' संज्ञा का प्रयोग आकस्मिक

'भट्टारक' शब्द मूलतः विद्वत्ता और पूज्यता का द्योतक है। 'भट्टारक' नाम से प्रसिद्ध अजिनोक्त-सवस्त्रसाधु-लिंगधारी, गुरुपद के अपात्र गृहस्थों के लिए 'भट्टारक' शब्द का प्रयोग अर्थानुरूप नहीं है, अपितु आकस्मिक है। दिगम्बरजैनपरम्परा में यह

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

शब्द पूज्यता-द्योतनार्थ तीर्थंकरों, आचार्यों एवं मुनियों के लिए प्रयुक्त होता था। जब मठवासी पासत्थ-कुसील मुनियों ने वस्त्र धारण कर जिनलिंग का परित्याग करते हुए भी अपने में मुनित्व का आभास देने के लिए पिच्छी-कमण्डलु का त्याग नहीं किया और मोक्षमार्ग को तिलाञ्जलि देकर मन्दिर-मठ-तीर्थादि के प्रबन्ध के अतिरिक्त गृहस्थों के धर्मगुरु का कर्म अपना लिया, तब अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग के कारण उनका अभिधान न तो 'मुनि' शब्द से हो सकता था, न 'एलक-क्षुल्लक' शब्दों से। अतः उन्होंने अपने अभिधान के लिए दिगम्बरपरम्परा में प्रचलित पूज्यभाव-सूचक 'भट्टारक' शब्द चुन लिया। और श्रावक उन्हें इसी शब्द से सम्बोधित करने लगे। फलस्वरूप उनका समूह 'भट्टारकसम्प्रदाय' शब्द से प्रसिद्ध हो गया। जब तक मन्दिरमठवासी मुनियों ने मुनिलिंग का परित्याग नहीं किया था और धर्मगुरु तथा पण्डिताचार्य बनकर गृहस्थों की धार्मिक क्रियाओं का पौरोहित्य एवं उनकी सामाजिक प्रवृत्तियों पर दण्डात्मक शासन का कर्म नहीं अपनाया था, तब तक उनके समुदाय को भट्टारकसम्प्रदाय जैसे नये नाम की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि उनका समुदाय मुनियों के ही नाम से जाना जाता था, और 'मुनि' शब्द अपने आप में पूज्यता-द्योतक था। अतः उनके सम्प्रदाय को भट्टारकसम्प्रदाय कहना इतिहास-सम्मत नहीं है। उनका सम्प्रदाय पासत्थादिमुनि-सम्प्रदाय के नाम से ही अभिहित होता था।

५.३. आरंभ में भट्टारक दिगम्बराचार्यों के शिष्य

ई० सन् ११४३ (शक सं० १०६५) के कोल्हापुर शिलालेख से ज्ञात होता है कि भट्टारक पहले मन्दिर-मठ में रहनेवाले दिगम्बर-जैनाचार्यों के शिष्य होते थे। उक्त शिलालेख में कहा गया है—

'--- **श्रीमद्गण्डरादित्यदेवस्य प्रियतनयः --- श्रीमद्विजयादित्यदेवः --- शकवर्षेषु पञ्चषष्ट्युत्तरसहस्रप्रमितेष्वतीतेषु प्रवर्त्तमानदुंदुभि-संवत्सर-माघ-मास-पौर्णमास्यांसोमवारे सोमग्रहणपर्वनिमित्तमाजिरगेखोल्लानुगत-हविन-हेरिलगे-ग्रामे --- श्रीमूलसङ्घ-देशीयगण-पुस्तकगच्छाधिपतेः क्षुल्लकपुर-श्रीरूपनारायण-जिनालयाचार्य-श्रीमन्माघनन्दिसिद्धान्तदेवस्य प्रियच्छात्रेण सकलगुणरत्नपात्रेण --- वासुदेवेन कारितायाः वसतेः श्रीपार्श्वनाथदेवस्याष्टविधार्च्चनार्थं तच्चैत्यालय-खण्ड-स्फुटित-जीर्णोद्धारार्थं तत्रत्ययतीनामाहारदानार्थं च तत्रैव ग्रामे कुण्डिदण्डेन निवर्त्तन-चतुर्थभाग-प्रमितं क्षेत्रं द्वादशहस्त-सम्मितं च गृहनिवेशनं च तन्माघनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यानां माणिक्यनन्दि-पण्डितदेवानां पादौ प्रक्षाल्य धारापूर्व्वकं सर्वनमस्यं सर्व्वबाधा-परिहारमाचन्द्रार्क्कतारं सशासनं दत्तवान्।**' (जै.शि.सं / मा.च. / भा.३ / लेख क्र. ३२० / कोल्हापुर / पृ.५३-५४)।

अनुवाद—"श्रीमान् गण्डरादित्यदेव के प्रिय पुत्र---श्रीमान् विजयादित्यदेव ने शक सं० १०६५ में दुन्दुभिवर्ष की माघपूर्णिमा सोमवार के दिन चन्द्रग्रहण के अवसर

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पर आजिरगेखोल्ल नामक जिले के हाविन-हेरिलगे गाँव में---श्रीमूलसंघ, देशीयगण, पुस्तकगच्छ के अधिपति, कोल्हापुर के श्रीरूपनारायण-जिनालय के आचार्य श्रीमाघनन्दिसिद्धान्तदेव के प्रिय छात्र (शिष्य) एवं सकलगुणरत्नों के पात्र---वासुदेव के द्वारा बनावाये गये मन्दिर के श्रीपार्श्वनाथदेव की अष्टविध पूजा के लिये, उस चैत्यालय के टूटे भाग के जीर्णोद्धार के लिए तथा वहाँ रहनेवाले मुनियों के लिए आहारदान हेतु, उसी ग्राम में कुण्डिदण्ड के माप से निवर्त्तन-चतुर्थ-भाग-प्रमित क्षेत्र तथा बारह हाथ लम्बा एक मकान उन माघनन्दि-सिद्धान्तदेव के शिष्य माणिक्यनंदि-पण्डितदेव को उनके पैर धोकर जलधारापूर्वक सबके द्वारा नमस्कारपूर्वक तथा कर आदि की समस्त बाधाएँ दूर करते हुए, जब तक सूर्य, चन्द्र तथा तारों का अस्तित्व है, तब तक के लिए राजाज्ञा द्वारा प्रदान किये।''

इस लेख में माणिक्यन्दी के साथ पण्डितदेव की उपाधि होने तथा उनके द्वारा उक्त दान स्वीकार किये जाने तथा उनके चरण धोये जाने से ज्ञात होता है कि वे रूपनारायण-जिनालय में नियतवास करनेवाले दिगम्बरजैनाचार्य श्री माघनन्दी के **भट्टारकशिष्य** थे।

निम्नलिखित शिलालेख से भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है—

''**श्रीमूलसंघ-देशियगण-पुस्तकगच्छ-कोण्डकुन्दान्वयद श्री (य्) अभयचन्द्र-सिद्धान्तिक चक्रवर्तिगळ प्रियशिष्य-रागमाम्बुनिधिगळुं सकल-गुणाकळितरुपम्म बालचन्द्रपण्डित-देवर प्रिय-गुड्डिएरु विनयनिधि मालियक्कं** ---।'' (जै. शि. सं. / मा. च. / भा.३ / लेख क्र. ४३९ / नित्तूर / कन्नड़ / लगभग १२०० ई०/ पृष्ठ २६६)।

अनुवाद—''श्रीमूलसंघ, देशियगण, पुस्तकगच्छ और कोण्डकुन्दान्वय के अभय-चन्द्र-सिद्धान्तिक-चक्रवर्ती के प्रिय शिष्य बालचन्द्र-पण्डितदेव की प्रिय गृहस्थशिष्या माळियक्के थी।''

इस अभिलेख में भी **पण्डितदेव** उपाधि से तथा 'मालियक्के' नामक गृहस्थमहिला के गुरु होने से बालचन्द्र का आचार्य अभयचन्द्र सिद्धान्तिक-चक्रवर्ती का भट्टारक-शिष्य होना सिद्ध होता है।

''**स्वस्ति श्री मतु शुभकीर्ति-पण्डितदेवर गुड्डि** ---'' =स्वस्ति श्रीमान् शुभकीर्ति-पण्डितदेव की शिष्या---। (जै. शि. सं. / मा.च. / भा.३ / ले.क्र.४८९ / ई.सन् १२४३) तथा ''**चारुकीर्ति-पण्डित-देवम् तच्छिष्यरू**'' --- = चारुकीर्ति पण्डितदेव, उनके शिष्य---। (वही / ले.क्र.५२४ / हलेबीड / ई० सन् १२७९)। इन लेखों में क्रमशः **स्वस्ति** शब्द-पूर्वक तथा **चारुकीर्ति** नाम के साथ **पण्डितदेव** की उपाधि का प्रयोग होने से भी सिद्ध होता है कि ये भट्टारकों के नाम हैं।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

आगे चलकर **पण्डितदेव** के स्थान में **पण्डिताचार्य** शब्द का प्रयोग होने लगा। यथा—

''श्री शकवर्ष १५९५ नेय परिधावि-संवत्सरद पुष्य शुद्ध १० यल्लि श्रीमतु मैसूर-देवराज-औडेयरु बेळुगोळद चारुकीर्ति-पण्डिताचार्यर दानशालेय जैनसंन्यासि-गळिगे नित्य-अन्न-दानक्के सर्व्वमान्य-वागि धारादत्त-वागिकोट्ट मदणिग्रामवु मंगल महा श्री श्री श्री।'' (जै.शि.सं. / मा.च. / भा.३ / ले.क्र.७१९ / १६७४ ई० / मदने / कन्नड़)।

अनुवाद—''(शकसंवत् की उक्त तिथि को) मैसूर के देवराज-औडेयर ने वेळुगोल (श्रवणबेलगोल) के चारुकीर्ति पण्डिताचार्य की दानशाला के जैन संन्यासियों (दिगम्बरजैन मुनियों) को आहारदान देने के लिए मदणि गाँव दान में दिया। महान् सौभाग्य।''

इन अभिलेखों से स्पष्ट हो जाता है कि शुरू-शुरू में भट्टारक दिगम्बर जैनाचार्यों से दीक्षित होकर और उनके शिष्य बनकर उनके साथ जिनालयों में रहते थे। अतः मन्दिर-मठों में रहनेवाले दिगम्बरमुनियों से वे भिन्न होते थे, अर्थात् मन्दिर-मठवासी मुनि नहीं, अपितु उनसे दीक्षा प्राप्त कर वस्त्र धारण कर लेनेवाले मुनि पण्डितदेव, पण्डिताचार्य या भट्टारक कहलाते थे।

उक्त अभिलेखों से यह भी ज्ञात हेता है कि उनके लेखनकाल में मन्दिर-मठवासी या विहार करते हुए वहाँ आनेवाले दिगम्बरमुनियों की आहार व्यवस्था के लिए दानशालाएँ खोली जाती थीं, जिनका खर्च चलाने के लिए राजा और श्रीमान् भूमि, ग्राम आदि का दान करते थे।

मन्दिरमठवासी मुनियों एवं भट्टारकों के स्वरूप में अनेक मौलिक भेद हैं, जिनके कारण उक्त मुनियों की परम्परा को भट्टारकपरम्परा कहना भट्टारकपरम्परा के स्वरूप के अनुकूल नहीं है। वे भेद इस प्रकार हैं—

१. मठवासी मुनि जिनोक्त नाग्न्यलिंगधारी होते थे, भट्टारक अजिनोक्त-सवस्त्र-साधु-लिंगधारी।

२. मठवासी मुनि, मुनिपद पर दीक्षित होते थे, भट्टारक, भट्टारकपीठ के अधिकारी-पद पर। मुनिदीक्षा या आचार्यदीक्षा स्थानविशेष या जातिविशेष के धर्माधिकारी की पीठ पर बैठालने के लिए नहीं दी जाती थी, किन्तु भट्टारकदीक्षा इसीलिए दी जाती थी।

३. मठवासी मुनियों की मुनिदीक्षा स्थायी होती थी, किन्तु भट्टारक पहले मुनिपद पर नग्न दीक्षित होते थे, पश्चात् श्रावकों के आग्रह पर वस्त्रधारण कर लेते थे।

४. मठवासी मुनि 'मुनि' होते थे, भट्टारक न मुनि होते थे, न श्रावक, क्योंकि वे मुनिदीक्षा लेकर उसे भंग कर देते थे और श्रावक की एक भी प्रतिमा ग्रहण नहीं करते थे, न ही उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य श्रावक का वेश धारण करते थे।

५. मठवासी मुनि गृहस्थों का पौरोहित्य नहीं करते थे, भट्टारकों का यही कर्म था। इसलिए मठाधीशों का नाम भट्टारक नहीं था, भट्टारकपीठाधीशों का नाम भट्टारक था।

६. मठवासी मुनि केवल दान लेते थे, गृहस्थों से दक्षिणा, चढ़ावा, वार्षिक कर और दण्डरूप में अर्थ नहीं लेते थे। भट्टारक यह सब लेते थे।

७. मठवासी मुनियों की जीवनशैली साधारण थी। भट्टारकों की जीवनशैली राजाओं के समान ऐश्वर्य से परिपूर्ण थी।

८. मठवासी मुनि साधुओं के संघ में रहते थे, भट्टारक अलग-अलग भट्टारकपीठों में अकेले ही रहते थे। एक पीठ और एक जाति का एक ही भट्टारक होता था।

९. मठवासी-दिगम्बराचार्य मुनियों का नेतृत्व करते थे, भट्टारकपीठाधीश गृहस्थों का।

१०. मठवासी मुनियों का मुनिपद एवं आचार्यपद आगमोक्त था, भट्टारकपद आगमोक्त नहीं है।

मठवासी या मठाधीश मुनियों तथा भट्टारकपीठाधीश भट्टारकों में ये दश मौलिक भिन्नताएँ थीं, **और वर्तमान में भी हैं, क्योंकि वर्तमान में भी दोनों का अस्तित्व है। तीर्थस्थान आदि में नियतवास करनेवाले मुनियों के दर्शन आज भी होते हैं। पूर्व में भट्टारकों के पाँच असाधारण धर्म बतलाये गये हैं। उनका मठवासी मुनियों में अभाव था, इसलिए वे लिंग और कर्म की अपेक्षा भट्टारक नहीं थे। उनके साथ जुड़ी भट्टारक-उपाधि विद्वत्ता-सूचक या आदर-सूचक थी, यद्यपि वे इसके पात्र नहीं थे।** वस्तुतः वे पासत्थ-आदि मुनि थे, अतः उनका सम्प्रदाय पासत्थ-आदि मुनियों का सम्प्रदाय था। मठवास, सम्पत्ति-प्रबन्ध, खेती-बाड़ी आदि कराना भट्टारकपीठ पर आसीन पुरुष के असाधारण धर्म नहीं हैं, क्योंकि ये मठवासी मुनियों में भी उपलब्ध होते थे, और जैन साहित्य एवं शिलालेखों में इन प्रवृत्तियों के कारण उनके लिए 'भट्टारक' उपाधि का प्रयोग नहीं किया गया। अतः उनका सम्प्रदाय भट्टारकसम्प्रदाय नहीं था।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

६

कुन्दकुन्द अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी भट्टारकसम्प्रदाय से पूर्ववर्ती

ऊपर प्रस्तुत किये गये प्रमाणों से निम्नलिखित तथ्य प्रकट होते हैं—

१. कुन्दकुन्द ईसापूर्व ८वें वर्ष में आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। आचार्य हस्तीमल जी ने भट्टारकपरम्परा के जिन तीन रूपों की कल्पना की है, उनमें से किसी का भी उस समय अस्तित्व नहीं था। अतः कुन्दकुन्द का भट्टारकपरम्परा में दीक्षित होना असम्भव था।

२. नन्दी आदि संघ मूलतः मुनियों के संघ थे। आगे चलकर इन संघों के जो मुनि भट्टारक बने, वे भी अपना सम्बन्ध इन्हीं संघों से जोड़ते रहे। इसलिए नन्दिसंघ की पट्टावलियों में मुनियों और भट्टारकों, दोनों के नाम वर्णित हैं। इन्हीं पट्टावलियों में भद्रबाहु द्वितीय, गुप्तिगुप्त (अर्हद्बलि), माघनन्दी, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द, उमास्वाति आदि के लिए महामुनि, मुनिचक्रवर्ती, सत्संयमी, जातरूपधर आदि विशेषणों के प्रयोग से स्पष्ट कर दिया गया है कि ये आचार्य २८ मूलगुणों का निरतिचार पालन करनेवाले मुनि थे, मुनि और श्रावक दोनों से भिन्न भट्टारक नहीं।

३. दिगम्बरजैन-साहित्य और शिलालेखों में 'भट्टारक' शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। १. पूज्य या आदरणीय के अर्थ में, २. विद्वान् के अर्थ में और ३. अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी धर्मगुरु एवं पण्डिताचार्य के अर्थ में। अन्तिम अर्थ में उसका प्रयोग १२ वीं शताब्दी ई० से आरम्भ हुआ था। अतः उसके पूर्व जिन आचार्यों के साथ उसका प्रयोग हुआ है, वह आदरसूचनार्थ या विद्वान् मुनि के अर्थ में हुआ है, अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी धर्मगुरु एवं पण्डिताचार्य के अर्थ में नहीं।

४. दिगम्बरजैन-साहित्य में चैत्यवासी या मठवासी मुनियों के सम्प्रदाय को भट्टारकसम्प्रदाय नाम नहीं दिया गया है। उनके लिए 'पार्श्वस्थ (पासत्थ) मुनि' और 'कुशीलमुनि' संज्ञाएँ प्रयुक्त की गई हैं। इसलिए भट्टारकसम्प्रदाय बहुत प्राचीन नहीं है।

५. मठवासी मुनियों से भिन्नता सिद्ध करनेवाले मठवासी भट्टारकों के पाँच असाधारण धर्म हैं—१. भट्टारकपीठ पर आसीन होने के लिए भट्टारकपद की दीक्षा का सम्पन्न होना, २. अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग-ग्रहण, ३. धर्मगुरु एवं पण्डिताचार्य के अधिकारों का आरोपण ४. दक्षिणा, चढ़ावा, भेंट, शुल्क, कर आदि से अर्थोपार्जन तथा ५. राजोचित ऐश्वर्यमय निरंकुश जीवनशैली। मठवासी मुनियों में इनका अभाव होता था, अतः वे लिंग और कर्म की दृष्टि से भट्टारक नहीं थे।

इन तथ्यों से सिद्ध हो जाता है कि कुन्दकुन्द के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होने के समय (ई० पू० ८ में) भट्टारकप्रथा का उदय नहीं हुआ था, उनके लगभग बारह सौ वर्ष बाद (१२ वीं शताब्दी ई० में) वह अस्तित्व में आयी थी। अतः न तो कुन्दकुन्द के प्रगुरु माघनन्दी भट्टारकसम्प्रदाय के संस्थापक थे, न ही कुन्दकुन्द के गुरु जिनचन्द्र एवं कुन्दकुन्द स्वयं भट्टारकसम्प्रदाय में कभी दीक्षित हुए थे, न ही कुन्दकुन्द विद्रोह करके गुरु से अलग हुए थे, न ही उनके द्वारा गुरु के नाम-अनुल्लेख का यह कारण था। अतः आचार्य हस्तीमल जी ने जो इस प्रकार का निष्कर्ष निकाला है, वह सर्वथा अप्रामाणिक है।

यदि आचार्य हस्तीमल जी की ओर से यह कहा जाय कि "ठीक है, हम मठवासी मुनियों के सम्प्रदाय को भट्टारकसम्प्रदाय नहीं मानते, पासत्थ-कुसील मुनियों का सम्प्रदाय मान लेते हैं, तब हमारी मान्यता है कि कुन्दकुन्द इसी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे।"

इसका उत्तर यह है कि पासत्थ-कुसील मुनियों की कोई पट्टावली उपलब्ध नहीं है, जिससे यह प्रमाणित हो कि कुन्दकुन्द उस सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। तथा किसी भी जैन ग्रन्थ या शिलालेख में यह उल्लेख नहीं है कि कुन्दकुन्द पासत्थ-कुसील मुनि थे। इसके अतिरिक्त नन्दिसंघ की किसी भी पट्टावली से कुन्दकुन्द का चैत्यवासी या मठवासी होना प्रमाणित नहीं होता। 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में छपी पट्टावली में कुन्दकुन्द आदि को जो भद्दलपुर का पट्टधर कहा गया है, उसकी अप्रामाणिकता पूर्व में सिद्ध की जा चुकी है। तथा इसी पट्टावली से सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द अपने गुरु जिनचन्द्र के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। इससे आचार्य हस्तीमल जी की यह कल्पना भी कपोलकल्पना सिद्ध हो जाती है कि कुन्दकुन्द अपने गुरु से विद्रोह करके संघ से अलग हो गये थे। यदि वे संघ से अलग हो गये होते, तो अपने गुरु के पद पर कैसे प्रतिष्ठित होते? तथा कुन्दकुन्द के ग्रन्थ इस बात के प्रमाण हैं कि उन्होंने मुनियों के नियतवास, कृषिवाणिज्यकर्म, असंयतों (देवी-देवताओं) की वन्दना, मंत्रतंत्रादिप्रयोग आदि की घोर निन्दा की है। इन क्रियाओं को आगमविरुद्ध बतलाते हुए नरकगति का कारण बतलाया है। इसके अतिरिक्त नन्दिसंघ की सभी पट्टावलियाँ बतलाती हैं कि कुन्दकुन्द न तो अपने गुरु से अलग हुए थे, न संघ से, अपितु अपने गुरु के उत्तराधिकारी बने थे। इन दो प्रमाणों से सिद्ध है कि कुन्दकुन्द आरंभ से ही आगमोक्त मुनिचर्या का नियमपूर्वक पालन करते आ रहे थे। ये प्रमाण इस कल्पना के लिये स्थान नहीं छोड़ते कि कुन्दकुन्द कभी पासत्थ-कुसील मुनियों के सम्प्रदाय में रहे होंगे। अतः आचार्य हस्तीमल जी ने कुन्दकुन्द द्वारा अपने गुरु के नाम का उल्लेख न किये जाने का जो कारण बतलाया है, वह सर्वथा अप्रामाणिक है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पंचम प्रकरण

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती यापनीय नहीं, दिगम्बर थे

आचार्य श्री हस्तीमल जी ने **जैनाचार्य-परम्परा-महिमा** नामक ग्रन्थ के अनुसार भट्टारकसम्प्रदायोत्पत्ति-कथा के प्रसंग में लिखा है—

''सबसे पहला आश्चर्यकारी तथ्य तो यह है कि भट्टारक-परम्परा का प्रमुख पीठ अथवा सिंहासनपीठ श्रवणबेलगोल भी सर्वप्रथम यापनीयपरम्परा के आचार्य नेमिचन्द्र के द्वारा संस्थापित किया गया और संसारप्रसिद्ध बाहुबली गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति की प्रतिष्ठा भी इन्हीं यापनीयपरम्परा के आचार्य नेमिचन्द्र ने गंगराजवंश के महाप्रतापी राजा राचमल्ल चतुर्थ के सेनापति एवं महामन्त्री चामुण्डराय के द्वारा करवायी। आचार्य नेमिचन्द्र महामन्त्री चामुण्डाराय के गुरु, गोम्मटसार के रचयिता और यापनीय-परम्परा के क्राणूरगण के मेषपाषाणगच्छ के आचार्य थे। **अजित-तीर्थंकर-पुराणतिलकम्** के रचयिता महाकवि **रन्न** (ई०सन् ९९३) ने अपनी इस महान् कृति के बारहवें अध्याय के पद्य २१ में आचार्य नेमिचन्द्र का परिचय देते हुए लिखा है—''**श्रीनेमिचन्द्र मुनिगल क्राणूरगण-तिलकरवर शिष्यर सद्विद्यानिलयण तानोदिसे कुसलनादन अण्णिगदेवम्।**'' --- क्राणूरगण यापनीयसंघ का ही गण था। इसके मेषपाषाण गच्छ और तिन्त्रिणीकगच्छ, ये दो गच्छ बड़े ही प्रसिद्ध गच्छ थे।--- दिगम्बरपरम्परा के शोधप्रिय विद्वान् श्री गुलाबचन्द्र चौधरी ने (जै.शि.सं./ मा.च./ भा.३ की प्रस्तावना में पृ. ५९ पर) क्राणूरगण को यापनीयसंघ का गण सिद्ध किया है।'' (जै.ध.मौ.इ./ भा.३ / पृ.१७९-१८०)।

आचार्य जी का यह कथन सर्वथा मिथ्या है। यह निम्नलिखित कारणों से सिद्ध है—

१. मैंने इसी अष्टम अध्याय के तृतीय प्रकरण में तथा 'यापनीय संघ का इतिहास' नामक सप्तम अध्याय के भी तृतीय प्रकरण में सप्रमाण सिद्ध किया है कि क्राणूर् या काणूर् गण तथा उसके मेषपाषाण एवं तिन्त्रिणीक गच्छ मूलसंघ (निर्ग्रन्थसंघ) के ही गण एवं गच्छ थे, यापनीयसंघ के नहीं। यापनीयसंघ में कण्डूर् गण था। यापनीयपक्षधर विद्वानों ने क्राणूर् (काणूर्) और कण्डूर् को एक ही मान लिया है, यह उनका भारी भ्रम है।

२. डॉ० गुलाबचन्द्र जी चौधरी ने क्राणूरगण को यापनीयसंघ का गण सिद्ध किया है, यह कथन बिल्कुल असत्य है। उन्होंने तो उक्त प्रस्तावना के ३१ वें पृष्ठ पर यापनीयसंघ के कण्डूरगण के विषय में यह लिखा है कि ''इस गण का ११वीं शताब्दी में क्या हुआ, सो तो मालूम नहीं, पर मूलसंघ के ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध

से मिलनेवाले लेखों (२०७, २०९ आदि) में क्राणूरगण के रूप में उल्लेख देख ऐसा लगता है कि यापनीय कण्डूरगण ही मूलसंघ द्वारा आत्मसात् कर लिया गया है।'' इसके बाद वे पृष्ठ ५९ पर लिखते हैं—''क्राणूरगण के सम्बन्ध में यापनीयसंघ के विवेचन में (पृष्ठ ३१ पर) हम सम्भावना प्रकट कर आये हैं कि क्राणूरगण यापनीयों के कण्डूरगण के नाम का शब्दानुकरण है।'' (जै.शि.सं. / मा.च. / भा.३)।

इससे स्पष्ट होता है कि डॉ० गुलाबचन्द्र जी चौधरी के मतानुसार यापनीयों में कण्डूरगण ही था, क्राणूरगण नहीं। उन्होंने केवल यह संभावना व्यक्त की है कि मूलसंघ ने 'कण्डूर' शब्द का अनुकरण कर अपने संघ में क्राणूरगण की स्थापना की थी। पर यह उनकी संभावनामात्र है। यह भी संभव है कि 'कण्डूर' और 'क्राणूर' नाम के अलग-अलग स्थान हों और उनके नाम से यापनीयसंघ में कण्डूरगण प्रचलित हुआ हो और मूलसंघ (निर्ग्रन्थसंघ) में क्राणूरगण।

३. श्रवणबेलगोल में यापनीयसंघ का कभी अस्तित्व ही नहीं रहा। वहाँ से तथा वहाँ के आस-पास से प्राप्त ५०० शिलालेखों में 'यापनीयसंघ' का नाम भी नहीं है। यापनीयसंघ के विषय में विशेष अनुसन्धान करनेवाले डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने अपने शोधलेख 'जैन सम्प्रदाय के यापनीयसंघ पर कुछ और प्रकाश' में लिखा है कि ''श्रवणबेलगोल में यापनीयसंघ से सम्बन्धित कुछ भी सामग्री का न मिलना इस बात का द्योतक है कि इस पीठ का विकास यापनीय साधुओं को छोड़कर अन्य साधुओं के सहयोग से हुआ है।'' ('अनेकान्त' / महावीरनिर्वाण विशेषांक / सन् १९७५ / पृ० २५१)। यदि श्रवणबेलगोल के भट्टारकपीठ पर सर्वप्रथम आसीन होनेवाले आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती यापनीयसंघ के होते, तो वहाँ के शिलालेखों में उनके साथ 'यापनीयसंघ' शब्द का प्रयोग हुए बिना न रहता।

४. आचार्य नेमिचन्द्र के गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में यापनीयमतविरुद्ध सिद्धान्त मिलते हैं। यथा—

क— तत्त्वार्थसूत्र (९/२७) में कहा गया है कि ''**उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्**''। अर्थात् शुक्लध्यान के लिए वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच और नाराच इन तीन उत्तम संहननों की आवश्यकता होती है। और आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार-कर्मकाण्ड में कहा है कि कर्मभूमि की स्त्रियों के अर्धनाराच, कीलित और सृपाटिका ये तीन हीन संहनन ही होते हैं, उत्तम संहनन नहीं होते—

अंतिम-तिग-संघडणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं।
आदिम-तिग-संघडणं णत्थित्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं॥ ३२॥

इसका फलितार्थ यह है कि स्त्रियों में चार प्रकार के शुक्लध्यान संभव नहीं हैं, जिससे इन ध्यानों के द्वारा होनेवाले कर्मों का क्षय भी उनमें असंभव है। इस प्रकार आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने स्त्रीमुक्ति का निषेध किया है, जो यापनीयमत का प्रमुख सिद्धान्त है।

ख— आचार्य नेमिचन्द्र ने **गोम्मटसार-कर्मकाण्ड में** यह भी कहा है कि अर्धनाराचसंहननवाला जीव अधिक से अधिक आरण-अच्युत स्वर्ग तक ही जा सकता है, उससे ऊपर नहीं—

सेवट्टेण य गम्मइ आदीदो चदुसु कप्पजुगलोत्ति।
तत्तो दु जुगलजुगले खीलिय-णारायणद्धोत्ति॥ २९॥

इसका अभिप्राय यह है कि चूँकि कर्मभूमि की स्त्रियों में अर्धनाराचसंहनन ही उत्कृष्ट संहनन होता है अतः वे अधिक से अधिक सोलहवें स्वर्ग तक ही जा सकती हैं, उससे ऊपर नहीं। इससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि कर्मभूमि की स्त्रियों में केवल सोलहवें स्वर्ग तक का सुख प्राप्त करने योग्य तप करने की शक्ति होती है, मोक्षसुख प्राप्त करने योग्य तप करने की शक्ति नहीं। इस प्रकार भी आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने यापनीयों के प्रमुख सिद्धान्त 'स्त्रीमुक्ति' का निषेध किया है।

ग—कोई मनुष्य द्रव्य (शरीर) से पुरुष और भाव से स्त्री या नपुंसक हो सकता है। कोई मनुष्य द्रव्य से स्त्री और भाव से पुरुष या नपुंसक हो सकता है। इसी प्रकार किसी मनुष्य का द्रव्य से नपुंसक और भाव से पुरुष या स्त्री होना संभव है। इसे वेदवैषम्य कहते हैं। यापनीयमत वेदवैषम्य को स्वीकार नहीं करता। (इसका विस्तार से विवेचन एकादश अध्याय में द्रष्टव्य है)। किन्तु नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने 'गोम्मटसार-जीवकाण्ड' में वेदवैषम्य के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है। यथा—

पुरुसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरुसित्थिसंढवो भावे।
णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा॥ २७१॥

घ—गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि नेमिचन्द्रकृत ग्रन्थों का सारा विषय-विवेचन गुणस्थानसिद्धान्त पर आश्रित है, जबकि यापनीयसम्प्रदाय गुणस्थानसिद्धान्त को अमान्य करता है। (इसका भी विस्तृत निरूपण एकादश अध्याय में दर्शनीय है)।

इस प्रकार आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के द्वारा रचित ग्रन्थों में यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन होना इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि वे यापनीय

नहीं, अपितु दिगम्बर थे। इससे इस तथ्य की भी पुष्टि होती है कि उनसे सम्बन्धित क्राणूरगण एवं मेषपाषाणगच्छ भी दिगम्बरों के ही गण-गच्छ थे।

इन तथ्यों की उपेक्षा कर आचार्य श्री हस्तीमल जी ने अपने ही मन से क्राणूरगण को यापनीयों का गण मान लिया और आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती को यापनीय घोषित कर जिज्ञासुओं को भ्रमित करने की चेष्टा की है। यह जिज्ञासुओं के साथ और प्रमाणसिद्ध कथन करनेवाले इतिहासकार की प्रतिष्ठा के साथ घोर अन्याय है।

✧✧✧

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

षष्ठ प्रकरण

भट्टारक-पदस्थापनविधि आगमोक्त नहीं

यतः जैनपरम्परा में भट्टारकपद आगमोक्त नहीं है, अतः भट्टारकदीक्षाविधि भी आगमोक्त नहीं है। तथापि वर्तमानकालीन कुछ मुनियों और आर्यिकाओं ने मुनि के भट्टारक बनने को आगमसम्मत सिद्ध करने की कोशिश की है। इतना ही नहीं भट्टारकपद को मुनिपद से भी उच्च बतलाया है। सन् २००२ ई० में **विविध दीक्षा-संस्कार विधि** नामक ७७ पृष्ठीय पुस्तिका प्रकाशित की गयी है, जिसमें मुनिदीक्षाविधि तथा आचार्यपद-स्थापना, उपाध्याय-पदस्थापना एवं भट्टारक-पदस्थापना की विधियों का वर्णन है। विधियाँ संस्कृत भाषा में हैं और पुस्तिका के प्राक्कथन में आर्यिका शीतलमति जी ने कहा है कि इन दीक्षाविधियों को दर्शानेवाला प्राचीन हस्तलिखित शास्त्र आचार्य श्री आदिसागर (अंकलीकर) जी के तृतीय पट्टाधीश आचार्य श्री सन्मतिसागर जी को दि० जैन अतिशय क्षेत्र बेड़िया (गुजरात) के शास्त्रभण्डार से प्राप्त हुआ था। वे आगे लिखती हैं—"इसकी विशेषता यह है कि इसमें भट्टारक-पदस्थापना के संस्कार भी लिखे हुए हैं। पूर्व में यह पद काफी चर्चा का विषय रहा है। इसलिये इस शास्त्र को पाकर आत्मा को बहुत सम्बल मिला। फलस्वरूप भट्टारक-निर्ग्रन्थपरम्परा को पुनः स्थापित करने के अभि-प्राय से (सन् २००२ ई० में) मुनि श्री जयसागर जी में इस भट्टारकपद के संस्कार (आरोपित) किये गये।" (पृष्ठ १०)।

इसी पुस्तिका के 'प्रकथन' लेखक डॉ० महेन्द्र कुमार जी जैन 'मनुज' ने लिखा है—"भारत पर मुगलशासनकाल में जैन आस्था के केन्द्र जिनमन्दिरों-मूर्तियों को भग्न किया गया तथा जैन वाङ्मय से सम्बद्ध ग्रन्थों को नष्ट किया गया, लूटा गया, जलाया गया, ऐसी भयावह परिस्थितियों में हमारे भट्टारकों ने ही लगभग एक सहस्राब्दी तक जैनवाङ्मय की येन केन प्रकारेण रक्षा की। इस हेतु हम उनके इस उपकार के ऋणी हैं। पूज्य भट्टारकों द्वारा संस्थापित, संरक्षित शास्त्रभण्डार अब भी हैं, किन्तु जहाँ से भट्टारकों की गद्दियाँ समाप्त हो गई हैं, वहाँ के शास्त्रभण्डारों की स्थिति दयनीय है। शास्त्र, विशेषकर ताडपत्रीय, नष्ट हो रहे हैं। उनकी सूचियाँ तक नहीं बन सकी हैं और उन्हें अनुपयोगी की श्रेणी में उन पुस्तकालयों में स्थान मिला हुआ है। यदि उत्तर भारत के पूर्व भट्टारक-केन्द्रों पर पुनः भट्टारकीय गद्दियाँ स्थापित हों, तो जिनवाणी संरक्षण के लिए यह महनीय उपक्रम होगा।" (पृष्ठ E)।

उक्त महानुभाव के इस वक्तव्य से उनकी मुनिविरोधी विचारधारा का पता चलता है। वे चाहते हैं कि मोक्षसाधना के लिए लौकिक बन्धनों से छुटकारा पाने हेतु गृहत्याग

कर देने वाले दिगम्बरमुनियों को किसी एक मन्दिर या तीर्थक्षेत्र पर नियतवास के बन्धन में बाँधकर अर्थात् उन्हें अनगार से सागार बनाकर उनसे वहाँ की चल-अचल सम्पत्ति और शास्त्रभण्डार के संरक्षण का कार्य कराया जाय। अर्थात् उन्हें **मुनि** से **मुनीम** या **चौकीदार** बना दिया जाय। किन्तु इस कार्य के लिए एक मुनि का इतना अधःपतन कराने की क्या आवश्यकता है? पिच्छी-कमण्डलु और जिनमुद्रा की इतनी अवमानना करने की क्या जरूरत है? यह कार्य तो एक प्रबन्धकुशल, समर्पित गृहस्थ या सप्तम प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी भी आसानी से कर सकता है।

आर्यिका शीतलमति जी ने मुनि जयसागर जी का भट्टारक-पट्टाभिषेक शास्त्रसम्मत माना है, क्योंकि कुछ पन्नों में, जिन्हें उन्होंने शास्त्र कहा है, उन्हें भट्टारक-पदस्थापना-विधि लिखी हुई मिली है। किन्तु उन्होंने यह नहीं बतलाया कि इस शास्त्र का कर्त्ता कौन है और यह कब लिखा गया है? उक्त लघुपुस्तिका में उस ९ पृष्ठीय (पृष्ठ ६९ से ७७) हस्तलिखित शास्त्र की छाया-प्रति निबद्ध की गयी है, किन्तु उसमें न तो शास्त्रकर्त्ता का नाम है, न ही रचनाकाल का उल्लेख। इसलिए वह सन्देह को जन्म देती है। यदि इस तथ्य की उपेक्षा कर दी जाय, तो भी उक्त हस्तलिखित शास्त्र में दी गयी भट्टारक-पदस्थापना-विधि आगमोक्त सिद्ध नहीं होती। इसका निर्णय उक्त विधि के मूलपाठ पर दृष्टि डालने से हो जाता है।

१

भट्टारक-पदस्थापना-विधि का मूलपाठ

''लघ्वाचार्यपदं सकलसंघाभिरुचितम्। ऐदंयुगीनश्रुतज्ञं जिनधर्मोद्धरणधीरं रत्नत्रय-भूषितं भट्टारकपदयोग्यं मुनिं दृष्ट्वा चतुर्विधसंघैः सह आलोच्य लग्नं गृहीत्वा सकलोपासक-मुख्यः सङ्घाधिपः सर्वत्रामन्त्रणपत्रीं प्रेषयेत्।

''ततो विचित्रशोभान्वितं मण्डपं वेदिकां सिंहासनं च कारयेत्। सर्वे उपासकाः चैत्यालये शान्तिकं गणधरवलयरत्नत्रयादिपूजां महोत्सवं च कुर्वन्ति। लग्नदिने शान्तिकं गणधरवलयार्चनं च विधाय जलयात्रा-महोत्सवं कृत्वा कलशान् १०८ आनीय सर्वौषधीः तन्मध्ये क्षिप्त्वा तान् स्वस्तिकोपरि स्थापयेत्।

''ततः सौभाग्यवती-स्त्रीभिः भूमौ चन्दनेन छटाः दापयित्वा मौक्तिकैः स्वस्तिकं कारयित्वा तस्योपरि **सिंहासनं स्थाप्य तत्र पूर्वाभिमुखं तं भट्टारकपदयोग्यं मुनिमासयेत्।** अथ 'भट्टारकपद-प्रतिष्ठापन-क्रियायाम्' इत्यादि उच्चार्य सिद्ध-श्रुताचार्य-भक्तिं पठेत्। ततो पण्डिताचार्यः 'ॐ ह्रूँ परमसुरभि-द्रव्यसन्दर्भ-परिमलगर्भ-तीर्थाम्बु-सम्पूर्ण-सुवर्ण-कलशाष्टोत्तरशत-तोयेन पादौ परिषेचयामीति स्वाहा' इति पठित्वा कलशाष्टोत्तरशत-तोयेन पादौ परिषेचयेत्।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

''ततः ऐदंयुगीनेत्यादि भट्टारक-स्तवनं पठन् पादौ समन्तात् परामृश्य गुणारोपणं कुर्यात्। ततः श्रीगुरुः तस्मै तत्पदयोग्यं परम्परागतं सूरिमन्त्रं दद्यात्। अथवा यदि तत्पदयोग्य-मुनेरभावात् श्रीगुरुणा भट्टारकेन आयुःप्रान्ते तत्पदयोग्यं सूरिमन्त्रं पत्रे लिखित्वा तत्पत्रं मदनादि-द्रव्यैर्वर्षयित्वा मुक्तं भवति। तदा स्थापनिकाधिकृतः पुमान् तत् पत्रं तस्मै दद्यात्।

''अथ आवाहनादिविधिः। ऊँ ह्रूँ णमो आयरियाणं धर्माचार्याधिपते परमभट्टारक-परमेष्ठिन्नत्र एहि एहि संवौषट् आह्वानम्। ऊँ ह्रूँ णमो आयरियाणं धर्माचार्याधिपते परम-भट्टारक-परमेष्ठिन्नत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनम्। ऊँ ह्रूँ णमो आयरियाणं धर्माचार्याधिपते परम- भट्टारकपरमेष्ठिन्नत्र सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधिकरणम्। इति आवाहनादिकं कृत्वा ततश्च ऊँ ह्रूँ णमो आयरियाणं धर्माचार्याधिपतये सकलश्रुताम्बुधिपारप्राप्ताय परमभट्टारकाय नमः। ऊँ आः अनेन सहेन्दुना चन्दनेन पादयोः तिलकं दद्यात्।

''ततः शान्ति-भक्तिं कृत्वा गुर्वावलिं पठित्वा 'श्रीमूलसङ्घे नन्दिसङ्घे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दान्वये अमुकस्य पट्टे **अमुकनामा त्वं भट्टारकः**' इति कथयित्वा समाधिभक्तिं पठेत्। **ततश्च गुरुभक्तिं दत्त्वा सर्वे यतिनः प्रणामं कुर्यात् (कुर्युः)। ततश्च सर्वे उपासका अष्टतयीमिष्टिं कृत्वा गुरुभक्तिं दत्वा प्रणमन्ति। ततः सोऽपि भट्टारको दात्रे सर्वेभ्यः उपासकेभ्यः आशिषं दद्यात्।** ततः सर्वे उपासकाः निज-निज-गृहात् महामहोत्सवेन वर्द्धापनमानीय तं वर्द्धापयन्ति। दाता सर्वं सङ्घं भोजयित्वा वस्त्रादिना सङ्घार्चनं कुर्यात्। याचकान् दीनानाथांश्च सन्तर्पयेच्च। **इति भट्टारकपदस्थापनाविधिः।**'' (विविध-दीक्षा-संस्कार-विधि / पृ.७३-७४)।

अनुवाद

''लघु आचार्य का पद समस्त संघ को प्रिय है। जो मुनि इस युग का श्रुतज्ञ, जिनधर्म का उद्धार करने में समर्थ, रत्नत्रय से भूषित एवं भट्टारकपद के योग्य हो, उस मुनि को खोजकर चतुर्विधसंघ के साथ विचार-विमर्श करके, शुभ मुहूर्त में सभी श्रावकों का मुखिया संघपति सब जगह आमन्त्रणपत्र भेजे।

''तत्पश्चात् विचित्रशोभा से युक्त मण्डप, वेदिका और सिंहासन का निर्माण कराया जाय। सब उपासक चैत्यालय में शान्तिक, गणधरवलय-रत्नत्रयादि पूजा तथा महोत्सव करते हैं। लग्न के दिन शान्तिक एवं गणधरवलय-पूजा एवं जलयात्रा महोत्सव करके १०८ कलश लाकर उनमें सभी औषधियाँ डाले और उन्हें स्वस्तिक के ऊपर स्थापित करे।

''तदनन्दतर सौभाग्यवती स्त्रियों के द्वारा भूमि पर चन्दन छिड़कवाकर तथा मोतियों से स्वस्तिक बनवाकर उसके ऊपर सिंहासन स्थापित करे तथा उस पर भट्टारकपद

के योग्य मुनि को पूर्व की ओर मुख करके बैठाला जाय। फिर "भट्टारकपद-प्रतिष्ठापन-क्रिया में ---" इत्यादि बोलकर सिद्ध, श्रुत और आचार्य की भक्ति पढ़ी जाय। उसके बाद पण्डिताचार्य "ॐ ह्रूँ अत्यन्त सुगन्धित द्रव्यों की सुगन्ध से युक्त तीर्थजल से भरे हुए १०८ कलशों के जल से चरणों का अभिषेक करता हूँ, स्वाहा" यह पढ़कर १०८ कलशों के जल से चरणों का अभिषेक करे।

"उसके बाद "इस युग के ---" इत्यादि भट्टारकस्तवन पढ़ते हुए सब ओर से चरणों का स्पर्श कर गुणों का आरोपण करे। तत्पश्चात् श्रीगुरु उन्हें भट्टारकपद के योग्य परम्परागत सूरिमन्त्र प्रदान करें। अथवा उस पद के योग्य मुनि का अभाव होने पर श्रीगुरु भट्टारक अपनी आयु के अन्त में उस पद के योग्य सूरिमंत्र पत्र में लिखकर उस पत्र पर मदनादि द्रव्यों की वर्षा कर मुक्त हो जाते हैं। तदनन्तर स्थापनिका के लिए अधिकृत पुरुष वह पत्र भट्टारकपद-योग्य मुनि को प्रदान करे।

"अब आवाहनादि-विधि का वर्णन किया जाता है। ॐ ह्रूँ णमो आयरियाणं, हे धर्माचार्याधिपते! परमभट्टारक-परमेष्ठिन्! यहाँ आइये, यहाँ आइये, संवौषट्। ॐ ह्रूँ णमो आयरियाणं, धर्माचार्याधिपते! परमभट्टारक-परमेष्ठिन्! यहाँ विराजिए, यहाँ विराजिए, ठः ठः। ॐ ह्रूँ णमो आयरियाणं, हे धर्माचार्याधिपते! परमभट्टारक-परमेष्ठिन्! यहाँ पास में स्थित होइये, पास में स्थित होइये। इस प्रकार आवाहनादि करके (पण्डिताचार्य) "ॐ ह्रूँ णमो आयरियाणं, धर्माचार्याधिपति, समस्त श्रुतसागर के पार को प्राप्त परमभट्टारक को नमस्कार" (ऐसा कहे)। फिर 'ॐ आः' यह उच्चारण करते हुए कपूर और चन्दन से चरणों पर तिलक करे।

"तत्पश्चात् शान्ति-भक्ति करके, गुर्वावली पढ़कर "**श्री मूलसंघ के नन्दिसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण एवं कुन्दकुन्दान्वय में अमुक के पट्ट पर अमुक नाम वाले तुम भट्टारक हुए**" यह कहकर (पण्डिताचार्य) समाधिभक्ति पढ़े। उसके बाद गुरुभक्ति करके **समस्त मुनि उन्हें (भट्टारक को) प्रणाम करें**। फिर सभी श्रावक आठ प्रकार की इष्टियाँ तथा गुरुभक्ति करके उन्हें प्रणाम करें। तब वे भट्टारक भी दाता (दीक्षाविधि के आयोजक) एवं समस्त श्रावकों को आशीष प्रदान करें। **उसके बाद सभी श्रावक अपने-अपने घर से बड़े उत्सवपूर्वक भेंट लाकर भट्टारक जी का अभिनन्दन करें**। दाता सर्वसंघ को भोजन कराकर **वस्त्रादि से संघ की पूजा करे**, याचकों और दीन-अनाथों को भी सन्तुष्ट करे। इस प्रकार भट्टारकपद-स्थापनाविधि समाप्त हुई।"

इस विधि में वर्णित निम्नलिखित तथ्यों से सिद्ध होता है कि **यह आगमोक्त नहीं है—**

१. विधि में भट्टारक को लघु आचार्य, धर्माचार्याधिपति और भट्टारक-परमेष्ठी की उपाधियों से सम्बोधित किया गया है, और कहा गया है कि जो मुनि भट्टारकपद के योग्य हो, उसे ही इस पद पर प्रतिष्ठित किया जाय। इससे सूचित किया गया है कि भट्टारकपद साधारण मुनिपद से अधिक योग्यतावाला होने से ऊँचा है, जैसे आचार्य और उपाध्याय के पद। इसीलिए यह विधान किया गया है कि भट्टारकपद पर अभिषिक्त होने के बाद समारोह में उपस्थित सभी मुनि भट्टारक-परमेष्ठी को प्रणाम करें। समस्त श्रावक भी उन्हें गुरु मानकर भक्तिपूर्वक नमस्कार करें। तथा भट्टारक-परमेष्ठी भी श्रावकों को आशीष दें।

किन्तु जिनागम में परमेष्ठी पाँच ही बतलाये गये हैं : अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनके अतिरिक्त भट्टारक नाम के छठवें परमेष्ठी का उल्लेख आगम में कहीं भी नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त भट्टारक-पद-स्थापना-विधि आगमोक्त नहीं है। जब भट्टारक नाम के परमेष्ठी का अस्तित्व ही आगमोक्त नहीं है, तब उसकी स्थापना-विधि को आगमोक्त मानना आकाशकुसुम को सुगन्धयुक्त मानने के समान है।

२. यद्यपि आगम में मुनियों के आचार्य और उपाध्याय के अतिरिक्त प्रवर्तक, स्थविर और गणधर, ये तीन भेद और बतलाये गये हैं, तथापि इन्हें आचार्य और उपाध्याय के समान स्वतन्त्ररूप से परमेष्ठी नहीं कहा गया है, अपितु ये साधुपरमेष्ठी में ही अन्तर्भूत हैं। तथा आचार्य आदि उपाधियाँ मुनि-संघोपकारक कर्त्तव्यभेद से प्रवर्तित हुई हैं। शिष्यों को आचार ग्रहण करानेवाले मुनि **आचार्य** कहलाते हैं, उन्हें धर्म का उपदेश देने वाले साधु **उपाध्याय** नाम से जाने जाते हैं, चर्या आदि के द्वारा संघ का प्रवर्तन करनेवाले मुनि की **प्रवर्तक** संज्ञा है, मर्यादोपदेशक अथवा संघ-व्यवस्थापक मुनि को **स्थविर** उपाधि दी गई है तथा गण अर्थात् मुनिसंघ के परिरक्षक साधु **गणधर** शब्द से अभिहित होते हैं। इन पाँच कर्त्तव्यों के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा मुनि-संघोपकारक कर्त्तव्य आगम में वर्णित नहीं है, जिसका सम्पादन करनेवाले मुनि को भट्टारक उपाधि दी जाती। इसीलिए मूलाचार में उपर्युक्त पाँच को ही संघ या गुरुकुल का आधार बतलाया गया है।[११६] हाँ, इन्द्रनन्दी ने 'नीतिसार' में सर्वशास्त्रकलाभिज्ञ, नानागच्छाभिवर्धक, महातपस्वी एवं प्रभावशाली मुनि को अवश्य भट्टारक कहा है, किन्तु

---

११६. तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा।
आइरियउवज्झाया पवत्तथेरा गणधरा य॥ १५५॥
सिस्साणुग्गहकुसलो धम्मुवदेसो य संघवट्टवओ।
मज्जादुवदेसो वि य गणपरिरक्खो मुणेयव्वो॥ १५६॥ मूलाचार।

२

आचार्य-पदस्थापना-विधि का मूलपाठ

"सुमुहूर्ते दाता शान्तिकं गणधर-वलयार्चनं च यथाशक्ति कारयेत्। ततः श्रीखण्डादिना छटाः दत्त्वा तन्दुलैः स्वस्तिकं कृत्वा तदुपरि पट्टकं संस्थाप्य तत्र पूर्वाभिमुखं तमाचार्यपदयोग्यं मुनिमासयेत्। 'अथाचार्यपद-प्रतिष्ठापन-क्रियायामित्यादि' उच्चार्य सिद्धाचार्यभक्तिं पठेत्। ततः 'ॐ ह्रूँ परमसुरभि-द्रव्यसन्दर्भ-परिमलगर्भ-तीर्थाम्बु-सम्पूर्ण-सुवर्णकलशपञ्चक-तोयेन परिषेचयामीति स्वाहा' इति पठित्वा कलशपञ्चकतोयेन पादौ परिषेचयेत्। ततः पण्डिताचार्यः निर्वेदसौष्ठवेत्यादि-महर्षिस्तवनं पठेत्। पादौ समन्तात् परामृश्य गुणारोपणं कुर्यात्। ॐ ह्रूँ णमो आयरियाणं आचार्यपरमेष्ठिन्नत्र एहि २ संवौषट् आवाहनम्। ॐ ह्रूँ णमो आयरियाणं आचार्यपरमेष्ठिन्नत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनम्। ॐ ह्रूँ णमो आयरियाणं आचार्यपरमेष्ठिन् सन्निहितो भव भव वषट् संनिधिकरणम् इति आवाहनादिकं कृत्वा ततश्च ॐ ह्रूँ णमो आयरियाणं धर्माचार्याधिपतये नमः। अनेन सहेन्दुना चन्दनेन पादयोस्तिलकं दद्यात्। ततः शान्ति-समाधि-भक्तीः कृत्वा गुरुभक्त्या गुरुं प्रणम्योपविशति। **ततः उपासकास्तस्य पादयोरष्टतयीमिष्टिं कुर्वन्ति। ततश्च गुरुभक्तिं दत्त्वा प्रणमन्ति। स दात्रे उपासकेभ्यश्चाशिषं दद्यात्। इति आचार्यपददान-विधिः।**" (विविध-दीक्षा-संस्कार-विधि / पृ.७२-७३)।

३

उपाध्याय-पददान-विधि का मूलपाठ

"सुमुहूर्ते दाता गणधरवलयार्चनं द्वादशाङ्गश्रुतार्चनं च कारयेत्। ततः श्रीखण्डादिना छटाः दत्त्वा तन्दुलैः स्वस्तिकं कृत्वा तदुपरि पट्टकं संस्थाप्य तत्र पूर्वाभिमुखं तमुपाध्यायपद-योग्यं मुनिमासयेत्। 'अथ उपाध्यायपदस्थापनक्रियायां पूर्वाचार्येत्यादि' उच्चार्य सिद्धश्रुतभक्तीः पठेत्। ततः आवाहनादिमन्त्रानुच्चार्य शिरसि लवंगपुष्पाक्षतानि क्षिपेत्। तद्यथा ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं उपाध्यायपरमेष्ठिन्नत्र एहि २ संवौषट् आवाहनम्। ॐ णमो उवज्झायाणं उपाध्यायपरमेष्ठिन् तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनम्। ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं उपाध्यायपरमेष्ठिन् सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधीकरणम्। ततश्च ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं उपाध्यायपरमेष्ठिने नमः। इदं मन्त्रं सहेन्दुना चन्दनेन शिरसि न्यसेत्। ततश्च शान्ति-समाधि-भक्तीः पठेत्। ततः स उपाध्यायो गुरुभक्तिं दत्त्वा गुरुं प्रणम्य दात्रे आशिषं दद्यादिति।" (विविध दीक्षा संस्कार विधि / पृ.७२)।

इन विधियों में कहीं भी यह उल्लेख नहीं है कि योग्य मुनियों के आचार्य और उपाध्याय पदों पर प्रतिष्ठित होने के पश्चात् सभी श्रावक अपने-अपने घर से महामहोत्सव-पूर्वक विभिन्न प्रकार की भेंट (वर्द्धापन) लाकर उनका अभिनन्दन करें

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

तथा दाता समस्त संघ को भोजन कराकर वस्त्रादि से उसकी पूजा करे। यह उल्लेख केवल भट्टारक-पदस्थापना-विधि में है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य-उपाध्याय की पदस्थापनाविधि और भट्टारक की पदस्थापनाविधि में बहुत अन्तर है। आचार्य और उपाध्याय के पद पर स्थापना निर्ग्रन्थ की निर्ग्रन्थपद पर स्थापना है, जब कि भट्टारकपद पर स्थापना निर्ग्रन्थ की सग्रन्थपद पर स्थापना है। आगम में ऐसे निर्ग्रन्थ से सग्रन्थ हो जानेवाले भट्टारकपरमेष्ठी की मान्यता नहीं है। अतः उपर्युक्त भट्टारक-पदस्थापना-दीक्षा-विधि आगममान्य नहीं है।

४. कथित भट्टारक-पदस्थापना-विधि की रचना कब की गई, इसका कोई संकेत उसमें नहीं है। फिर भी उसमें यह उल्लेख किया गया है कि "श्रीमूलसंघ के नन्दिसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण और कुन्दकुन्दान्वय में अमुक के पट्ट पर अमुक नामवाले तुम भट्टारक हुए।" **इस उल्लेख से सिद्ध होता है कि उक्त विधि बारहवीं शताब्दी ई० के पश्चात् किसी समय रची गई है, क्योंकि कुन्दकुन्दान्वय की उत्पत्ति ईसोत्तर प्रथम शती में, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण की १०वीं शती में और नन्दीसंघ की ७वीं शती (भट्ट अकलंकदेव के दिवंगत होने) के बाद हुई थी। (देखिये इसी अध्याय का प्रकरण ३/शीर्षक १)। तथा कुन्दकुन्दान्वय के साथ नन्दिसंघ का प्रथम उल्लेख बूढ़ी चँदेरी (गुना, म.प्र.) में उपलब्ध १२वीं शताब्दी के एक लेख में हुआ है। तत्पश्चात् विजयनगर के १३८६ ई० के शिलालेख में मिलता है, यह पूर्व (इसी अध्याय के प्र.३/शी.१) में दर्शाया जा चुका है। अतः वह दीक्षाविधि आगमोक्त नहीं, अपितु १२वीं शताब्दी ई० के आरम्भ में भट्टारकप्रथा की शुरुआत होने के बाद भट्टारकसम्प्रदाय द्वारा रचित है।** इसलिए उसे आगमोक्त मानकर किसी मुनि को भट्टारकपद पर अभिषिक्त करना आगमसम्मत नहीं है। तथा आगमबाह्य भट्टारक-परम्परा के अनुसार भी कोई भी मुनि मुनिवेश में भट्टारकपट्ट पर स्थित नहीं रहा। मुनियों में वस्त्रधारण कर भट्टारक बनने की प्रथा १२वीं शताब्दी ई० में आरंभ हो गयी थी। तथा पण्डित हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्री के ये शब्द पूर्व में उद्धृत किये गये हैं कि एक ऐतिहासिक पत्र के अनुसार भट्टारक सकलकीर्ति (१५ वीं शताब्दी ई०) २२ वर्ष तक मुनिवेश में रहे, पश्चात् वस्त्र धारण कर भट्टारक बन गये और प्रतिष्ठादि कार्य सम्पन्न कराने लगे। तात्पर्य यह है कि मुनि अथवा गृहस्थ दिगम्बरवेश में भट्टारकपट्ट पर अभिषिक्त तो होते थे, किन्तु उस वेश में वे पट्ट पर स्थित नहीं रहते थे, अभिषेक के पश्चात् दिगम्बरमुनिवेश त्याग कर अजिनोक्त-सवस्त्रसाधु-वेश धारण कर लेते थे। **अतः किसी मुनि को भट्टारकपट्ट पर अभिषिक्त कर उसे मुनिवेश में ही पट्ट पर आसीन रहने देना भट्टारकसम्प्रदाय द्वारा रचित पूर्वोद्धृत पदस्थापनाविधि के भी विरुद्ध है।**

इस प्रकार भट्टारक-पदस्थापना-विधि में उल्लिखित तथ्यों से ही सिद्ध होता है कि वह विधि आगमोक्त नहीं है, अपितु आगमबाह्य भट्टारकसम्प्रदाय द्वारा रचित है। **तथा आगमप्रमाण सिद्ध करते हैं कि किसी मन्दिर, मठ या तीर्थ में नियतवास कर उनके प्रबन्ध और संरक्षण का कार्य मुनियों का धर्म नहीं है, अपितु मुनिधर्म के विरुद्ध है। अतः यह कार्य करनेवाला कोई मुनि, न तो मुनि कहला सकता है, न भट्टारक, न परमेष्ठी। इस कारण भी उक्त दीक्षाविधि आगमोक्त सिद्ध नहीं होती। अतः उसे आगमोक्त मानकर किसी मुनि को तीर्थादि के प्रबन्ध और संरक्षण का कार्य करनेवाले भट्टारकपट्ट पर प्रतिष्ठित करना उसे मुनिपद से अधःपतित करना है,** जो जिनशासन के प्रति गम्भीर अपराध है। अतः भट्टारक बनाना ही हो, तो किसी गृहस्थ को ही बनाया जाय। इस गृहस्थोचित लौकिक कार्य के लिए अलौकिक अवस्था में पहुँचे किन्हीं मुनिश्री का शीलभंग न किया जाय, उन्हें मुनिपद से गृहस्थपद पर न उतारा जाय, उन्हें मोक्षमार्ग से खींचकर संसारमार्ग में न घसीटा जाय, उनकी वीतरागता का अपहरण न किया जाय। उन पर मन्दिर-मठ-तीर्थादि के प्रबन्ध का स्वामित्व थोपकर, उन्हें अपरिग्रह-महाव्रत से वंचित न किया जाय, मन्दिर-मठ-तीर्थादि के संरक्षण की चिन्ता में फँसाकर उन्हें आर्त्त-रौद्र-ध्यान की भट्टी में न झौंका जाय, उन्हें गुरु से लघु और पूज्य से अपूज्य न बनाया जाय, उनकी पवित्र आत्मा पर अपवित्रता की कीचड़ न लपेटी जाय और उन्हें जिनशासन के नायक से जिनशासन का खलनायक न बनाया जाय। इसी प्रकार भट्टारक बनाने के लिए किसी गृहस्थ को पहले मुनिदीक्षा देकर, बाद में वस्त्र पहनाकर एवं पिच्छी-कमण्डलु देकर मुनिपद के साथ खेल न किया जाय। पहले से ही वस्त्रधारी किसी योग्य ब्रह्मचारी गृहस्थ को सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण कराकर पिच्छी-कमण्डलु के बिना भट्टारकपद पर प्रतिष्ठित किया जाय। इससे भट्टारकपद सम्माननीय भी रहेगा, तीर्थादि का प्रबन्ध भी भलीभाँति होगा तथा भट्टारकपद आगमानुकूल भी हो जायेगा। आगम और पिच्छी-कमण्डलु के अनादर से बचने के लिए वर्तमान नग्न भट्टारक भी अपने मुनिलिंग का एवं सवस्त्र भट्टारक पिच्छी-कमण्डलु का त्याग करें अथवा भट्टारकपद का त्यागकर मुनिपद स्वीकार करें।

✧✧✧

सप्तम प्रकरण

भट्टारकपरम्परा के प्रति विद्रोह

तेरापन्थ का उदय

भट्टारकपरम्परा अनागमोक्त थी, श्रावक-शोषक थी एवं यथार्थधर्म-विनाशक थी, इसका सबसे स्पष्ट प्रमाण यह है कि ईसा की १६ वीं शती में उत्तरभारत में इस परम्परा के प्रति तीव्र आक्रोश भड़का और शास्त्रज्ञ पण्डितों के नेतृत्व में इसके खिलाफ विद्रोह का शंख फूँक दिया गया, जिसके परिणामस्वरूप उत्तरभारत में भट्टारकपरम्परा जड़ से उखड़ गयी। ऐसा विद्रोह कभी न तो मुनिपरम्परा के प्रति हुआ है, न एलक-परम्परा के, न क्षुल्लक परम्परा के, क्योंकि ये आगमोक्त हैं।

कुछ वर्तमानकालीन विद्वानों का कथन है कि "भट्टारक-परम्परा ने जैनधर्म, जैनतीर्थ, मन्दिर-मूर्तियों और जैनशास्त्रों की रक्षा का महान् कार्य किया है।" यह सही है, किन्तु यह धर्मरक्षा की भावना से नहीं किया गया, अपितु राजोजित प्रभुत्व और ऐश्वर्यमय जीवन की साधनभूत धरोहर होने के भाव से किया गया। यह धरोहर दान, दक्षिणा, चढ़ावा, दर्शनपूजन-शुल्क, व्यवस्थाकर आदि आय के विभिन्न-स्रोतों के रूप में भट्टारकों के ऐश्वर्यमय जीवन का साधन बन गयी थी। रत्न-प्रतिमाओं एवं षट्खण्डागम आदि शास्त्रों की ताड़पत्रीय प्रतियों के दर्शन आज भी शुल्क लेकर कराये जाते हैं। जिस वस्तु का एकछत्र स्वामित्व प्राप्त हो जाता है और अपने राजसी ठाठ-बाट का साधन बन जाती है, उसकी रक्षा का प्रयत्न अपने-आप होता है। उस के लिए वीतरागता और मोक्षमार्ग की कुर्वानी देने में भी हिचकिचाहट नहीं होती। यदि धर्मशासक-भट्टारकों ने जैनधर्म की रक्षा के भाव से यह किया होता, तो वे उसमें घोर विकृति उत्पन्न कर जिनधर्म के यथार्थ स्वरूप का विनाश न करते।

१

जिनशासन का मिथ्यात्वीकरण

भट्टारकपरम्परा ने जैनशासन के मिथ्यात्वीकरण का अभूतपूर्व कार्य किया है। यथा—

१. सरागी सग्रन्थ (भट्टारकों) को वीतरागी निर्ग्रन्थ के समान गुरु एवं पूज्य ('नमोऽस्तु' एवं अष्टद्रव्य से पूजा के योग्य) बना दिया।

२. क्षेत्रपाल-पद्मावती आदि देवी-देवताओं को जिनेन्द्रदेव से अधिक पूजनीय बना दिया।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

३. संयम और शौच के उपकरणभूत पिच्छी-कमण्डलु को स्वाँग (मुनि वेश की नकल) की सामग्री बना दिया।

४. गृहस्थों की आगमानुसार आचरण की स्वतन्त्रता का अपहरण कर उन्हें अपने आदेशानुसार आचरण के लिए विवश कर दिया।

५. गृहस्थों को शास्त्राध्ययन से वंचितकर केवल पूजा-हवन आदि में 'स्वाहा' बोलनेवाला तोता ही बनने दिया।

६. उन्हें मोक्षसाधक धर्म से विमुख कर लौकिक-फल-साधक धर्म के मायाजाल में फँसाया। भट्टारक स्वयं के श्रावकव्रतरहित होने के कारण गृहस्थों को श्रावकव्रत ग्रहण करने की प्रेरणा न देकर अपने अर्थोपार्जन के लिए तरह-तरह के लौकिक व्रतों (रविव्रत, रोहिणीव्रत, मुकुट-सप्तमीव्रत, आकाशपंचमीव्रत, सुगन्धदशमीव्रत, कोकिलापंचमीव्रत, चन्दनषष्ठीव्रत, नवग्रहविधान आदि) के अनुष्ठान एवं उद्यापन[११८] की प्रेरणा देते थे, इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवारण के लिए मन्त्रतन्त्र कराने और मणि-मुक्ता धारण करने के मायाजाल में फँसाते थे। इन व्रतों के अनुष्ठान में पंचामृत अभिषेक, सचित्तपूजा, स्त्रियों के द्वारा जिनप्रतिमा के अभिषेक आदि की अनिवार्यता बतलाते थे।

७. भगवान् महावीर ने कर्मक्षय के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्ररूपित किया है। किन्तु भट्टारकनामधारी पंचमकालीन मिथ्या धर्मगुरुओं ने इसके विकल्प के रूप में **कर्मदहन** नामक व्रत के अनुष्ठान अथवा उसके श्रवणमात्र को कर्मक्षय के सरल उपाय के रूप में प्रस्तुत किया है। भट्टारकोपासक पं० नेमिचन्द्र द्वारा विक्रमसंवत् १९०९ (ई० सन् १८५२) में लिखे गये **सूर्यप्रकाश** नामक ग्रन्थ की परीक्षा करते हुए अपने **सूर्यप्रकाश-परीक्षा** (१९३४ ई०) नामक ग्रन्थ (पृ. ७४-७८) में पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार **सब पापों से छूटने का सस्ता उपाय** शीर्षक के अन्तर्गत लिखते हैं—

"ग्रन्थ में एक व्रतप्रकरण दिया गया है, जिसका प्रारम्भ "**पुनराह शृणु भूप! तेषां भाविसुखाप्तये**" इन शब्दों से होता है, और उसके द्वारा भगवान् महावीर ने पंचमकाल के मानवों की सुखप्राप्ति के लिये राजा श्रेणिक को कुछ व्रतविधान सुनाया है। इस

११८. "वस्तुतः उद्यापनादि की ये सब बातें भट्टारकीय शासन से सम्बन्ध रखती हैं। भट्टारकों को उद्यापनों से बहुत कुछ प्राप्ति हो जाती थी और उनके अधिकृत मन्दिरों में बहुत सा सामान पहुँच जाता था, जिसके आधार पर वे खूब आनन्द के तार बजाते थे। इसीलिए उन्होंने अनेक व्रतों के साथ उद्यापन की बात को जोड़ दिया है।" (पं० जुगलकिशोर मुख्तार : सूर्यप्रकाशपरीक्षा / पृ.८२-८३)।

प्रकरण में आष्टाह्निक आदि व्रतों के नाम सामान्यरूप से अथवा कुछ विशेषणों के साथ देकर और उनके विधिपूर्वक अनुष्ठान का फल दो तीन भवों में मुक्ति का होना बतलाकर 'कर्मदहन' नाम के एक खास व्रत का विधान किया गया है। इस व्रत की उत्कृष्ट विधि में मूलोत्तर कर्मप्रकृतियों के संख्याप्रमाण १५६ प्रोषधोपवास एकान्तर से और निरारम्भ करने होते हैं, अर्थात् पहले दिन मध्याह्न के समय एक बार शुद्ध भोजन, दूसरे दिन निरारम्भ अनशन (उपवास) फिर तीसरे दिन एक बार भोजन और चौथे दिन अनशन यह क्रम रहता है, भोजन के दिन पंचामृतादि के अभिषेक-पूर्वक तथा जिनचरणों में गन्धलेपनपूर्वक सचित्तादि द्रव्यों से पूजा की जाती है, प्रत्येक उपवास के दिन उस-उस कर्म प्रकृति के नामोल्लेखपूर्वक एक जाप्य १०८ संख्या-प्रमाण जपा जाता है।[११९] साथ ही, विकथादि के त्यागरूप कुछ संयम का भी अनुष्ठान किया जाता है।[१२०] यह सब बतलाने के बाद ग्रन्थ में इस व्रत के फल का वर्णन करते हुए लिखा है—

कर्मदहनव्रतस्य फलं शृणु समाधिना।
श्रवणाच्च यत्सर्वांहाः प्रलयं यान्ति देहिनाम्॥ १७८॥

"इसमें भगवान् महावीर राजा श्रेणिक को कर्म-दहन-व्रत के फल को ध्यानपूर्वक सुनने की प्रेरणा करते हुए कहते हैं कि-'इस व्रत के फलश्रवण से देहधारियों के सब पाप प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं।' यहाँ 'सर्वांहाः' पद में प्रयुक्त हुए 'सर्व' शब्द की मर्यादा 'सर्वज्ञ' शब्द में प्रयुक्त हुए 'सर्व' शब्द की मर्यादा से कुछ कम नहीं है। वह जैसे त्रिकालवर्ती अशेष पदार्थों को विषय करनेवाला कहा जाता है वैसे ही यह 'सर्व' शब्द भी भूत-भविष्यत्-वर्तमानकाल सम्बन्धी सब प्रकार के संपूर्ण पापों को अपना विषय करनेवाला समझना चाहिये। उन सब पापों का इस फलश्रवण से उपशम या क्षयोपशम होना ही नहीं कहा गया, बल्कि एकदम प्रलय (क्षय) हो जाना बतलाया गया है और इसलिये इस कथन का साफ फलितार्थ यह निकलता है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, असातावेदनीय, अशुभ नाम, अशुभ आयु, और अशुभगोत्र नाम की जो भी पापप्रकृतियाँ हैं वे सब इस व्रत के फलश्रवण-मात्र से क्षय को प्राप्त हो जाती हैं! फिर तो मुक्ति की उसी जन्म में गारण्टी अथवा रजिस्टरी समझिये!

११९. "अनुवादक ने एक दिन के जाप्य का नमूना "ॐ ह्रीं मतिज्ञानावरणकर्मनाशाय नमः" दिया है।" (लेखक)।

१२०. "वह संयम विकथा, गृहारम्भ, स्त्रीसेवन, शृङ्गार, खट्वाशयन, शोक, वृथापर्यटन, अष्टमद, पैशुन्य, परनिन्दा, परस्त्रीनिरीक्षण, रागोद्रेकपूर्वकहास्य, रति, अरति, कुभाव, दुर्ध्यान, भोगाभिलाष, पत्रशाक और अशुद्ध दूध-दही-घृत के त्यागरूप कहा गया है। (श्लोक १६८ से १७१)।" (लेखक)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"पाठकजन! देखा, कितना सस्ता और सरल यह उपाय भगवान् ने सब पापों से छूटने और मुक्ति की प्राप्ति का बतलाया है! पाप-क्षय का इससे अधिक सुगम उपाय आप को अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिला होगा। इस गुह्य रहस्य का ग्रन्थकार पर ही अवतार भगवान् की खास मेहरबानी का फल जान पड़ता है! अच्छा होता, यदि भगवान् दि० तेरहपंथियों और ढूँढियों को इस व्रत का फल पहले ही सुना देते, जिससे वे बेचारे सर्व पापों से मुक्त हो जाते और फिर भगवान् को उनके साथ लड़ने-झगड़ने तथा उनपर गालियों की वर्षा करने की जरूरत ही न रहती। शायद कोई तार्किक महाशय यहाँ यह कह बैठें कि चूँकि भगवान् को खास तौर से अपने अभिषेक पूजनादि के लिये उन्हें प्रेरित करना था, वे इस व्रत का फल उन्हें पहले ही कैसे सुना देते? परन्तु तब तो उन्हें व्रतफल सुनने का ऐसा माहात्म्य बतलाना ही नहीं चाहिये था। इसे मालूम करके तो लोगों की प्रवृत्ति उस कर्मदहनव्रत के अनुष्ठान की भी नहीं रह सकती, जिसमें अनेक प्रकार से अपने अभिमत पंचामृताभिषेक, जिन-चरणों पर गन्धलेपन और सचित्त द्रव्यों से पूजन की प्रेरणा अथवा पुष्टि की गई है, क्योंकि उसकी उत्कृष्टविधि का—और इसलिये अधिक से अधिक—फल तो अगले जन्म में विदेह क्षेत्र का सम्राट् होकर, जिनदीक्षा लेकर और अनेक तप तपकर मुक्ति का होना लिखा है, और इस व्रतफल के श्रवण से बिना किसी परिश्रम के ही सब पापों का नाश होकर उसी जन्म में मुक्ति हो जाती है। इससे व्रत करने की अपेक्षा उसका फल सुनना ही अच्छा रहा! फिर ऐसा कौन बुद्धिमान् है, जो सिद्धि के सरल से सरल एवं लघु मार्ग को छोड़कर कष्टकर और लम्बे मार्ग को अपनाए? ग्रन्थकार की इस मार्मिक शिक्षा और कर्मफल के नूतन आविष्कार पर तो लोगों को सारे धर्मकर्म को छोड़कर एक मात्र कर्मदहनव्रत के फल को ही सुन लेना चाहिये। बस, बेड़ा पार है। इससे सस्ता और सुगम उपाय दूसरा और कौन हो सकता है?

"ग्रन्थ में एक स्थान पर उन मनुष्यों को, जो सारे जन्म पाप में ही मग्न रहते हैं, इसी व्रत के कारण शिवपद की प्राप्ति होना लिखा है—

आजन्मपापमग्ना हि नराः यास्यन्ति निश्चयात्।
अस्यैव कारणाद् भूप! शिवास्पदे च शाश्वते॥ १२॥ पृ.२५४।

"परन्तु हमारे खयाल से तो उक्त श्लोक नं० १७८ की मौजूदगी में, ऐसे महापापी मनुष्यों को भी व्रत की उत्कृष्ट विधि के अनुष्ठानरूप इस द्राविड़ी प्राणायाम की जरूरत नहीं है। **वे इस व्रत के फल को सुनकर सहज ही में सब पापों से छूट कर मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं।**" (सूर्यप्रकाश-परीक्षा / पृ. ७४-७८)।

८. भट्टारकनामधारी धर्मगुरुओं ने पंचमकाल में ध्यान और तप को असम्भव घोषित करते हुए, मोक्षप्राप्ति का एक दूसरा भी सरल उपाय बतलाया है, जिससे दूसरे ही भव में गारण्टी से मोक्ष प्राप्त हो जाता है। वह उपाय है सम्मेदशिखर की बार-बार वन्दना करना। यह उपाय इसी **सूर्यप्रकाश** नामक ग्रन्थ में बतलाया गया है। उसकी जानकारी देते हुए पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार **सूर्यप्रकाश-परीक्षा** (पृष्ठ ८४-९०) में लिखते हैं—

क— "**ध्यान और तप का करना वृथा**–व्रतप्रकरण के बाद ग्रन्थ में 'सम्मेदाचल' नाम का एक प्रकरण दिया है और उसमें श्रीसम्मेदशिखर की यात्रा का अद्भुत माहात्म्य बतलाते हुए ध्यान और तप की बुरी तरह से अवगणना की गई है। '**श्मशान-भूमियों और पर्वतों की गुफादिकों में करोड़ पूर्व वर्ष पर्यन्त किये हुए ध्यान से भी अधिक फल सम्मेदशिखर के दर्शन से होता है**' इतना ही नहीं कहा गया, बल्कि '**पंचमकाल में तप और ध्यान की सिद्धि नहीं होती, अतः सम्मेदशिखर की यात्रा ही सर्वसिद्धि को करनेवाली है**' यहाँ तक भी कह डाला है। और इस तरह आजकल के लिये ध्यान और तप का करना बिलकुल ही वृथा ठहरा दिया है। दो कदम आगे चल कर तो स्पष्ट शब्दों में इन दोनों का निषेध ही कर दिया है और भव्यजनों के नाम यह आज्ञा जारी कर दी है कि '**तपों के समूह को और ध्यानों के समूह को मत करो, किन्तु जीवनभर बार-बार सम्मेदशिखर का दर्शन किया करो। उसी के एक मात्र पुण्य से दूसरे ही भव में निःसन्देह शिवपद की प्राप्ति होगी।**' यथा—

कोटिपूर्वकृतं ध्यानं श्मशानाद्रिगुहादिषु।
तदधिकं भवत्येव फलं तद्दर्शनाद् नृणाम्॥ १३॥

नैव सिद्धिः तपस्योच्चैः (!) ध्यानस्यैव कदाचन।
तस्मिन् काले ह्यतो भूप ! सा यात्रा सर्वसिद्धिदा॥ १४॥

मा कुरुध्वं तपोवृन्दं भो भव्याः! ध्यानसंहतिम्।

× × ×

समं प्रत्येकवारं च आमृत्यु तस्य दर्शनम् ॥ १७॥

भजध्वं तेन पुण्येन केवलेन शिवास्पदे।
यास्यथ नात्र सन्देहो द्वितीये हि भवेऽव्यये॥ १८॥

"यह सब कथन जैनधर्म की शिक्षा से कितना बाहर है, इसे बतलाने की जरूरत नहीं। सहृदय पाठक सहज ही में इसकी निःसारता का अनुभव कर सकते हैं। खेद है कि ग्रन्थकार ने इसे भी भगवान् के मुख से ही कहलाया है! उसे यह ध्यान नहीं रहा कि मैं इस ग्रन्थ में अन्यत्र कितनी ही बार इन दोनों के करने की प्रेरणा

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

तथा इनके सफल अनुष्ठान का उल्लेख भी कर आया हूँ। और न यही ख्याल आया कि जिस ध्यान और तप के माहात्म्य से सम्मेदशिखर पूज्यता को प्राप्त हुआ है, उसी की मैं इस तरह अवगणना तथा निषेध कर रहा हूँ। अथवा प्रकारान्तर से मुनिधर्म को भी उठा रहा हूँ। हाँ, इस प्रकार की शिक्षा भट्टारकों के खूब अनुकूल है, उन्हें राजसी ठाठों के साथ मौजमजा उड़ाना है, ध्यानादि के विशेष चक्कर में पड़ना नहीं है।

ख—"**मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं**—ग्रन्थ में सम्मेदशिखर के दर्शनमाहात्म्य का वर्णन करते हुए एक श्लोक निम्न प्रकर से दिया है, जिस में राजा श्रेणिक को सम्बोधन करते हुए कहा है कि इस (पाँचवें) काल में मानवों के लिये सम्मेदशिखर के (उसके दर्शन के) सिवाय शिव का (मुक्ति का) दूसरा और कोई उपाय नहीं है—

अस्मिन्काले नराणां च मतो भो मगधाधिप !
श्रीमच्छिखरसम्मेदान्नान्योपायः शिवस्य वै॥ २६॥

"यह कथन जैनसिद्धान्तों के बिलकुल विरुद्ध है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रादि सभी प्राचीन जैनग्रन्थों में, जो पंचमकाल के मनुष्यों के लिये ही लिखे गये है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मुक्ति का उपाय (मार्ग) बतलाया है, सम्मेदशिखर की यात्रा अथवा उसके दर्शन को किसी भी सिद्धान्तग्रन्थ में मुक्ति का उपाय नहीं लिखा। दूसरे, खुद इस ग्रन्थ के भी यह विरुद्ध है, क्योंकि इसी ग्रन्थ में मुक्ति के दूसरे उपाय भी बतलाये हैं। उदाहरण के तौर पर कर्मदहन आदि व्रतों को ही लीजिये, जिन से द्वितीयादि भव में मुक्ति का प्राप्त होना लिखा है, इस यात्रा से भी द्वितीयादि भव में ही मुक्ति की प्राप्ति होना बतलाया है। फिर ग्रन्थकार का यहाँ भगवान् के मुख से यह कहलाना कि 'मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं' कितनी अधिक नासमझी तथा अविवेक से सम्बन्ध रखता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। यदि शिव का, मुक्ति अथवा कल्याण का, दूसरा कोई उपाय नहीं है, सम्यग्दर्शनादिक भी नहीं, तब समझ में नहीं आता कि इस ग्रन्थ के उपासक मुनिजन भी क्यों व्यर्थ के तप, जप, ध्यान, संयम और उपवासादि का कष्ट उठा रहे हैं! उन्हें तो सब कुछ छोड़-छाड़कर एक मात्र सम्मेदशिखर का दर्शन ही करते रहना चाहिये।

ग—"**भव्यत्व की अपूर्व कसौटी**—कोई जीव भव्य है या अभव्य, इसका पहचानना बड़ा ही मुश्किल काम है, क्योंकि कभी-कभी कोई जीव प्रकटरूप में ऊँचे दर्जे के आचार का पालन करते हुए भी अन्तरंग में सम्यक्त्व की योग्यता न रखने के कारण अभव्य होता है और दूसरा महापापाचार में लिप्त रहने पर भी आत्मा में

सम्यक्त्व के व्यक्त होने की योग्यता को रखने के कारण भव्य कहा जाता है। बहुत बड़े विशेषज्ञानी ही जीवों के इस भेद को पहचान सकते हैं। परन्तु पाठकों को यह जान कर बड़ा ही कौतुक होगा कि इस ग्रन्थ में उन सब जीवों को 'भव्य' बतला दिया गया है जो सम्मेदशिखर पर स्थित हों अथवा जिन्हें उसका दर्शन हो सके, चाहे वे भील-चाण्डाल-म्लेच्छादि मनुष्य, सिंहसर्पादि पशु, कीड़े-मकोड़े आदि क्षुद्र जन्तु और वनस्पति आदि किसी भी पर्याय में क्यों न हों, और साथ ही यह भी लिख दिया है कि वहाँ अभव्य जीवों की उत्पत्ति ही नहीं होती और न अभव्यों को उक्त गिरिराज का दर्शन ही प्राप्त होता है। यथा—

यत्रत्याः सकला जीवाः सिंहसर्पादिका नराः।
भव्याः स्युः इतरेषां च उत्पत्तिर्नैव तत्र वै॥ २८॥

कलौ तद्दर्शनेनैव तरिष्यन्ति घना जनाः।
भव्यराशिसमुत्पन्ना नोऽभव्याः तस्य दर्शकाः॥ ३३॥

"पाठकजन! देखा, भव्यत्व की यह कैसी अपूर्व कसौटी बतलाई गई है! बड़े-बड़े सिद्धान्तशास्त्रों का मथन करने पर भी आपको ऐसे गूढ़ रहस्य का पता न चला होगा। यह सब भट्टारकीय शासन की महिमा है, जिसके प्रताप से ऐसे गुप्त तत्त्व प्रकाश में आए हैं। **इन यात्राओं के द्वारा भट्टारकों तथा उनके आश्रित पंडे-पुजारियों का बड़ा ही स्वार्थ सधता था।** तीर्थस्थान महन्तों की गद्दियाँ बन गये थे। इसी से लोगों को यात्रा की प्रेरणा करने के लिये उन्होंने गंगा-यमुनादि हिन्दूतीर्थों के माहात्म्य की तरह कितने ही माहात्म्य बना डाले हैं। इनमें वास्तविकता बहुत कम पाई जाती है, अतिशयोक्तियाँ भरी हुई हैं। सम्मेदशिखर के माहात्म्यादि-विषय में जो कुछ विस्तार के साथ इस ग्रन्थ में कहा गया है, उसकी पूरी जाँच और आलोचना को प्रकट करने के लिए एक अच्छा खासा ग्रन्थ लिखा जा सकता है। मालूम होता है, आचार्य शान्तिसागर जी का जो विशाल संघ सम्मेदशिखर की यात्रा को कुछ वर्ष पहले निकला था, वह प्रायः इस ग्रन्थ में दी हुई बड़ी यात्राविधि को सामने रखकर ही निकला था और उसके द्वारा संघपति सेठ जी को अगले ही जन्म में मुक्ति की प्राप्ति का सर्टिफिकेट मिल गया है।[१२१] आश्चर्य नहीं जो भावी निश्चित सिद्धों (तीर्थङ्करों) की तरह उनकी अभी से पूजा प्रारम्भ हो जाय। अब वे स्वच्छन्द हैं, चाहे जो करें।

घ—"**सम्यग्दर्शन का विचित्र लक्षण**—इस ग्रन्थ में, तेरहपंथियों से भगवान् की झड़प के समय, सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्दृष्टि का जो लक्षण दिया है वह इस प्रकार है—

---

१२१. "इत्यादि शुभविधिना सो वन्दितः सन् द्वितीये हि भवे तं पुरुषं मोक्षसुखं दातुं क्षमः। नात्र संशयः।" इस वाक्य के अनुसार। (लेखक)।

सम्यग्दृष्टेरिदं लक्ष्म यदुक्तं ग्रन्थकारकैः।
वाक्यं तदेव मान्यं स्याद् ग्रन्थवाक्यं न लङ्घयेत्॥ ६१५॥

अर्थात् ग्रन्थकारों ने (ग्रन्थों में) जो भी वाक्य कहा है, उसे ही मान्य करना और ग्रन्थों के किसी वाक्य का उल्लंघन नहीं करना, सम्यग्दर्शन का लक्षण है, जिसकी ऐसी मान्यता अथवा श्रद्धा हो, वह सम्यग्दृष्टि है।[१२२]

"जिन पाठकों ने जैनधर्म के प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन किया है, अथवा कम से कम तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार और पंचाध्यायी जेसे ग्रन्थों को ही देखा है, उन्हें यह बतलाने की जरूरत नहीं कि यह लक्षण कितना विचित्र और विलक्षण है। वे सहज ही में समझ सकते हैं कि इसमें समीचीन लक्षण के अंगरूप न तो तत्त्वार्थश्रद्धान का कोई उल्लेख है, न परमार्थ आप्त-आगम-गुरु के त्रिमूढ़तादिरहित और अष्टअंगसहित श्रद्धान का ही कहीं दर्शन है, न स्वानुभूति का कुछ पता है, और न प्रशमसंवेगादि गुणों का ही कोई चिह्न दिखाई पड़ता है। सच पूछिये तो यह लक्षण बड़ा ही रहस्यमय है, जाली सिक्कों को चलाने की मनोवृत्ति ही इसकी तह में काम करती हुई नजर आती है, और इसलिए इसे **भट्टारकीय शासन** के प्रचार का मूल-मंत्र समझना चाहिये। इसी पर्दे की ओट में भट्टारक लोग और उनके अनुयायीजन सब कुछ करना चाहते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में अपनी इष्टसिद्धि के लिये चाहे जो कुछ मिला दिया जाय और चाहे जिन बातों को चलाने के लिये प्राचीन ऋषियों अथवा तीर्थंकरों के नाम पर नये ग्रन्थों का निर्माण कर दिया जाय, परन्तु उसमें कोई भी 'चूँ चरा' अथवा आपत्ति न करे, बिना परीक्षा और बिना तत्त्व की जाँच किये ही सब लोग उन बातों को आगमकथित के रूप में आँख मींचकर मान लेवें, इसी मन्तव्य की रक्षा के लये बिना किसी विशेषण के सामान्यरूप से **ग्रन्थकार, ग्रन्थ** और **वाक्य** शब्दों का प्रयोग करके सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्दृष्टि के लक्षण का यह विचित्र कोट तैयार किया गया है। अन्यथा इसमें कुछ भी सार नहीं है। ग्रन्थकारों में अच्छे बुरे, योग्य-अयोग्य सभी प्रकार के ग्रन्थकार होते हैं, उनमें आचार्य, भट्टारक, गृहस्थ और प्रस्तुत ग्रन्थकार तथा त्रिवर्णाचारों के कर्ताओं जैसे धूर्त भी शामिल हैं, और ग्रन्थों में भी अनेक कारणों के वश सच्ची-झूठी सभी प्रकार की बातें लिखी जा सकती हैं और लिखी गई हैं। फिर बिना परीक्षा और सत्य की जाँच किये महज ग्रन्थवाक्य होने से ही किसी बात को कैसे मान्य किया जा सकता है? यदि यों ही मान्य किया जाय, तो फिर सम्यक्-मिथ्या का विवेक ही क्या रह सकता है? और बिना उसके सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि

---

१२२. "सम्यग्दृष्टि' शब्द सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शनवान् दोनों के अर्थ में आता है। इसी से मूल में प्रयुक्त हुए इस शब्द का अर्थ यहाँ उभयरूप से किया गया है।" (लेखक)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

का भेद भी कैसे बन सकता है? अतः यह सब भट्टारकीय मायाजाल और उनकी लीला का दुष्परिणाम है। और उसी ने ऐसे बहुत से झूठे तथा जाली ग्रन्थों को जन्म दिया है, जिनमें अनेक त्रिवर्णाचार, श्रावकाचार, संहिताशास्त्र और चर्चासागर जैसे ग्रन्थ भी शामिल हैं, और जिनमें से कितनों ही की परीक्षा होकर उनका स्पष्ट झूठ तथा जालीपन पब्लिक के सामने आ चुका है।" (सूर्यप्रकाश-परीक्षा / पृ.८४-९०)।

९. भट्टारकों ने वीतरागता की प्रतीक जिनप्रतिमा की शृंगारमय पूजा प्रचलित की। चरणों में चन्दनलेप, गले में पुष्पमाला और मस्तक पर कुसुमरचित मुकुट पहनाया जाने लगा। मुकुट पहनाने का विधान मुकुटसप्तमी व्रत में किया गया है—

तत्प्रश्नाच्छ्रेष्ठिपुत्रीति प्राह भद्रे! शृणु ब्रुवे।
व्रतं ते दुर्लभं येनेहामुत्र प्राप्यते सुखम्॥

शुक्लश्रवणमासस्य सप्तमे दिवसेऽर्हताम्।
स्नपनं पूजनं कृत्वा भक्त्याष्टविधमूर्जितम्॥

ध्रियतां मुकुटं मूर्ध्नि रचितं कुसुमोत्करैः।
कण्ठे श्रीवृषभेशस्य पुष्पमाला च धार्यते॥ (व्रतकथाकोश)

अनुवाद—"सेठ की पुत्री के प्रश्न को सुनकर आर्यिका बोलीं—"भद्रे! सुनो, मैं तुम्हें ऐसा व्रत बतलाती हूँ, जिससे इस लोक में दुर्लभ सुख प्राप्त होता है। श्रावण मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी के दिन भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेव का अभिषेक और अष्टद्रव्य से पूजन कर भगवान् ऋषभदेव के मस्तक पर कुसुमों से रचित मुकुट रखना चाहिए और कण्ठ में पुष्पमाला पहनानी चाहिए।"

१०. वीतरागता, संयम, अपरिग्रह और अहिंसाविशिष्ट जैनशासन में भट्टारकपरम्परा ने गुरु की ऐसी छवि प्रस्तुत की, जो राजसी ठाठ-बाट से रहता है, श्रावकों का शोषण करता है, उनसे तरह-तरह की लौकिक फलसाधक, अविश्वसनीय धार्मिक क्रियाएँ कराकर दक्षिणा माँगता है, उन्हें अपने पूरे परिकर के साथ भोजन कराने ओर मनमाँगी भेंट देने के लिए मजबूर करता है, भेंट देने में असमर्थ होने पर कोड़ों से पिटवाकर वसूल करता है अथवा मन्त्रतन्त्र द्वारा अनिष्ट करने की धमकी देकर आतंकित करता है।

११. भट्टारकपरम्परा ने अपने साथ कुन्दकुन्दान्वय और मूलसंघ के नाम जोड़ कर अपनी आगमविरुद्ध, मिथ्यात्वपोषक, अप्रशस्त प्रवृत्तियों को आगमसम्मत अर्थात् भगवान्-महावीरोपदिष्ट सिद्ध करने की चेष्टा की, **जो केवली, श्रुत और संघ, तीनों का अवर्णवाद है।**

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

२

विद्रोह एवं तेरापन्थ का उदय

भट्टारकों के इस राजसी ठाठबाटमय, श्रावकशोषक, निरंकुश रूप से जैन गृहस्थों का मन उनके प्रति घोर घृणा और आक्रोश से भर गया और ईसा की १७वीं शताब्दी में आगरावासी कविवर पं० बनारसीदास जी जैसे धर्मज्ञ पण्डितों के नेतृत्व में उन्होंने भट्टारकपरम्परा के प्रति विद्रोह कर दिया, जिसके फलस्वरूप उत्तरभारत से भट्टारकपरम्परा का लोप हो गया और तेरापन्थ की स्थापना हो गयी। केवल दक्षिणभारत, महाराष्ट्र और गुजरात में इने-गिने भट्टारकपीठ अवशिष्ट रह गये। उत्तरभारत से भट्टारकपरम्परा का यह उन्मूलन इस बात का दो टूक प्रमाण है कि उसने जैनधर्म के स्वरूप को कितना विकृत कर दिया था! और उस विकृति का दुष्परिणाम आज जैन समाज तेरापन्थ और बीसपन्थ नाम के दो टुकड़ों में विभक्त होकर दूसरे रूप में भोग रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भट्टारकसम्प्रदाय ने तीर्थों, मन्दिर-मूर्तियों और शास्त्रों की रक्षा कर जिनशासन का जितना हित किया है, उससे कई गुना अहित किया है।

२.१. पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री का मत

तेरहपन्थ के उदय के कारण पर प्रकाश डालते हुए पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री लिखते हैं-"भट्टारकी युग के शिथिलाचार के विरुद्ध दिगम्बर-सम्प्रदाय में एक पन्थ का उदय हुआ, जो तेरहपन्थ कहलाया। कहा जाता है कि इस पन्थ का उदय विक्रम की सत्रहवीं सदी में पं० बनारसीदास जी के द्वारा आगरे में हुआ था। --- श्वेताम्बराचार्य मेघविजय ने वि० सं० १७५७ के लगभग आगरे में **युक्तिप्रबोध** नाम का एक ग्रन्थ रचा है। यह ग्रन्थ पं० बनारसीदास जी के मत का खण्डन करने के लिए रचा गया है। इसमें **वाणारसीमत** का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

तम्हा दिगंबराणं एए भटारगा वि णो पुज्जा।
तिलतुसमेत्तो जेसिं परिग्गहो णेव ते गुरुणो॥ १६॥

जिणपडिमाणं भूसणमल्लारुहणाइ अंगपरियरणं।
वाणारसिओ वारइ दिगंबरस्सागमाणाए॥ १७॥

"अर्थात् दिगम्बरों के भट्टारक भी पूज्य नहीं हैं। जिनके तिलतुषमात्र भी परिग्रह है, वे गुरु नहीं हैं। **वाणारसीमतवाले** जिनप्रतिमाओं को भूषणमाला पहनाने का तथा अंगरचना करने का भी निषेध दिगम्बर-आगमों की आज्ञा से करते हैं।

"आजकल जो तेरहपन्थ प्रचलित है, वह भट्टारकों या परिग्रहधारी मुनियों को अपना गुरु नहीं मानता और प्रतिमाओं को पुष्पमालाएँ चढ़ाने और केसर लगाने का

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

भी निषेध करता है, तथा भगवान् की पूजनसामग्री में हरे पुष्प और फल नहीं चढ़ाता। उत्तर भारत में इस पन्थ का उदय हुआ और धीरे-धीरे यह समस्त देशव्यापी हो गया। इसके प्रभाव से भट्टारकी युग का एक तरह से लोप ही हो गया।" (जैनधर्म/ पृ. ३०४-३०५)।

२.२. पं० नाथूराम जी प्रेमी का मत

तेरहपन्थ की उत्पत्ति के कारण की मीमांसा पं० नाथूराम जी प्रेमी ने इन शब्दों में की है—"जब भट्टारकों ने अपने शिथिलाचार से, क्रियाकाण्ड की अयत्नाचाररूप प्रवृत्ति से, अपरिमित अधिकारों के दुरुपयोग से और मुनिवेष के सर्वथा परित्याग से वीतराग भगवान् के मार्ग को गंदा करना शुरू किया और जब वह मनस्वी विद्वानों को सहन नहीं हुआ, तब उन्होंने तेरहपंथ की नीव डाली। इस तरह अन्य धर्मों और पंथों के समान तेरहपंथ की भी उत्पत्ति में उस समय की परिस्थिति और आवश्यकता ही को प्रधान कारण समझना चाहिए।

"पं० बखतरामजीकृत बुद्धिविलास ग्रन्थ में अनेक गच्छों का वर्णन करते हुए कहा है कि—

इनही गछमैं नीकस्यौ, नूतन तेरहपंथ।
सोलह सै तेरासिए, सो सब जग जानंत॥ ६३१॥

"इससे मालूम होता है कि वि० संवत् १६८३ में तेरहपंथ की उत्पत्ति हुई। तेरहपंथ कोई ऐसा जुदा पंथ नहीं है, जिसने अपने कोई खास सिद्धान्त और नियमादि के ग्रन्थ बनाये हों, इसलिये उसकी उत्पत्ति की कोई खास तिथि या मिती नहीं हो सकती है, तो भी उक्त दोहे से यह मान लिया जा सकता है कि संवत् १६८३ के लगभग इस पंथ के अनुयायी दो सौ-चार सौ श्रावक अवश्य हो गये होंगे। यद्यपि तेरहपंथ के जो विचार हैं, वे विद्वानों के जी में उसी समय कुछ अव्यक्त रूप से स्थिर हो गये होंगे, जब कि भट्टारकों में थोड़ा-थोड़ा शिथिलाचार घुसा था, परन्तु वे विचार प्रगट होकर किसी पुरुषार्थवान् विद्वान् के द्वारा १६८३ के लगभग ही कार्य में परिणत हुए होंगे। और उस समय भट्टारकों का शिथिलाचार तथा अत्याचार असह्य हो गया होगा। आगे ज्यों-ज्यों शिथिलाचार बढ़ता गया, त्यों-त्यों तेरहपंथ पुष्ट होता गया और उसका प्रतिपक्षी भट्टारकपंथ वा बीसपंथ कमजोर होता गया। इन दोनों का बढ़ाव-घटाव पिछली तीन शताब्दियों में इतना हुआ कि अब इस समय दिगम्बर जैनियों का लगभग दो तिहाई समाज तेरहपंथ का अनुयायी है और बीसपंथियों में भी जितना शिक्षित समाज है, यदि वह तेरहपंथी नहीं है, तो भट्टारकपंथ का भी अनुयायी नहीं है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"जो लोग प्राचीनता को ही समीचीनता की जड़ समझते हैं, अपने पंथ या धर्म को प्राचीन सिद्ध करने में ही अपना गौरव समझते हैं, **वे शायद तेरहपंथ को आधुनिक बतलाने के कारण हम पर नाराज होंगे।** परन्तु हमारी समझ में गंदे प्राचीन बनने की अपेक्षा पवित्र अर्वाचीन बनना अच्छा है। और यह भी तो सोचना चाहिये कि तेरहपंथ का उदय संवत् १६८३ के लगभग हुआ, सो क्या उसका उदय करनेवालों ने उस समय अपना कोई नवीन सिद्धान्त स्थापित किया था? नहीं, भट्टारकों के द्वारा वीतरागमार्ग में जो बुराइयाँ पैदा हो गई थीं, उनको उन्होंने दूर करने का और यथार्थमार्ग की प्रवृत्ति करने का निश्चय किया था। फिर तेरहपंथ को अर्वाचीन पद मिलने से खेद करने की क्या आवश्यकता है?

"पंचामृत-अभिषेक करना, प्रतिमा के चरणों में केशर लगाना, सचित्त फल-फूल चढ़ाना, क्षेत्रपालादि की पूजा करना आदि क्रियाकाण्ड-सम्बन्धी कई बातों में तेरहपंथ और बीसपंथ में मतभेद है। बीसपंथी इन कार्यों का करना आवश्यक समझते हैं, और तेरहपंथी इनका निषेध करते हैं। **परन्तु तेरहपंथ और बीसपंथ का प्रधान मतभेद भट्टारकों की उपासना के कारण हुआ है।** और भट्टारकों की उपासना नहीं करना, यह पक्ष जो तेरहपंथियों ने लिया था, उसका कारण केवल भट्टारकों का शिथिलाचार है। **बल्कि इस शिथिलाचार की शंका ही से तेरहपंथियों ने बीसपंथ में अयत्नाचार-पूर्वक प्रचुरता से प्रचलित पंचामृताभिषेकादि क्रियाओं का निषेध कर दिया है।** इस लेख में हम यह चर्चा नहीं करना चाहते हैं कि इन बीसपंथियों में मान्य और तेरहपंथियों में निषिद्ध क्रियाओं के विषय में शास्त्रों की क्या राय है, **परन्तु यह कहने में हमें कुछ अत्युक्ति नहीं जान पड़ती है कि तेरहपंथियों ने जिस तरह बहुत सी अनुचित बातों का निषेध करके शुद्धाम्नाय की प्रवृत्ति की है, उसी तरह से बहुत सी उचित बातों का भी त्याग कर दिया है और इसका कारण भट्टारकों के शिथिलाचार की शंका तथा अपने पक्ष का सीमा से अधिक खिंचाव है।**

"तात्पर्य यह है कि तेरहपंथ के उत्पन्न होने का मुख्य कारण भट्टारकों का अधःपतन तथा शिथिलाचार है।

"**तेरहपंथ ने क्या किया?** यदि कोई हम से उक्त प्रश्न करे, तो हम उसको स्पष्ट शब्दों में उत्तर देंगे कि **तेरहपंथ ने जैनधर्म को बचा लिया!** जिस प्रकार भट्टारकों ने प्रारंभ में जैनधर्म की बड़ी भारी प्रभावना की थी, उसको अनेक संकटों से बचाया था, उसी प्रकार से तेरहपंथ ने भट्टारकों के एकाधिपत्य से नष्ट होते हुए जैनधर्म को सहारा देकर खड़ा कर दिया। जिस समय भट्टारकों पर प्रवृत्ति ने अपना मोहिनी-मंत्र फूँका था, और उससे मुग्ध होकर वे स्वर्गीय निवृत्तिमार्ग से पतित होकर वासनाओं की पंकिल भूमि में आ पड़े थे, उस समय एक तो यों ही कई शताब्दियों की राजकीय

अशान्ति से सब ओर अज्ञान अंधकार छा रहा था, दूसरे भट्टारक लोग अपने दोषों पर कोई अंगुलिनिर्देश नहीं कर सके और हमारी सेवापूजा में कुछ न्यूनता नहीं होने पावे, इस स्वार्थ-विचार से श्रावकसमूह में धार्मिक ज्ञान की वृद्धि की कुछ चेष्टा नहीं करते थे, बल्कि धार्मिक ज्ञान के 'शोलएजेंट' बनकर वे श्रावकों को मनमाने भाव से धर्म का विक्रय करने लगे थे और उन्हें तार के इशारों से नाचने वाली कठपुतलियों के समान सर्वथा जड़ बना के निश्चिन्त हो गये थे। तेरहपंथ का सबसे बड़ा उद्योग भट्टारकों की इसी संकीर्णता के विरुद्ध में हुआ। उसने श्रावकों को उनका भूला हुआ निजत्व स्मरण कराया और सिखलाया कि ऐसे गुरुओं की अपेक्षा न करके अब तुम अपने पैरों से खड़ा होना सीखो। धार्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिये यदि तुम संस्कृत नहीं पढ़ सकते हो, तो मत पढ़ो, हम तुम्हें भाषा में ही जैनधर्म के सिद्धान्त जानने का मार्ग सुगम किये देते हैं। इस विषय में तेरहपंथ के अगुओं ने इतना उद्योग किया कि पिछले दो सौ-तीन सौ वर्षों में हजारों जैनग्रन्थ जयपुर, आगरा आदि की सरल भाषाओं में बन गये। और उन्हें पढ़कर जगह-जगह जैनधर्म के जाननेवाले श्रावक दिखलाई देने लगे। जगह-जगह शास्त्रसभाएँ वा स्वाध्यायसभाएँ होने लगीं। और साधारण पढ़े-लिखे भाई भी गोम्मटसार जैसे गहन ग्रन्थों की चर्चा समझने लगे। इसीलिए हम कहते हैं कि तेरहपंथ ने जैनधर्म को बचा लिया।

"जिन प्रान्तों में भट्टारकों की सत्ता अभी तक बनी हुई है, उनसे यदि आप उन प्रान्तों का मिलान करेंगे, जहाँ कि भट्टारकों की पूछ नहीं है और तेरहपंथ का जोर है, तो जमीन-आसमान का फर्क नजर आयगा। भट्टारकों के प्रान्त धार्मिक ज्ञान से प्रायः कोरे मिलेंगे और तेरहपंथ के प्रान्त धर्मचर्चा से सिंचित दिखलाई देंगे। इससे आप अनुमान कर सकते हैं कि तेरहपंथ ने क्या किया है।" (जैनहितैषी / भाग ७/ अंक १०-११ / वीर नि० सं० २४२७ / १९१० ई०)।

३

बुन्देलखण्ड में भट्टारकशासन की अन्तिम सदी १८वीं ई०

यद्यपि ईसा की १७वीं सदी में उत्तरभारत में भट्टारकपन्थ के प्रति विद्रोह की आग भड़की और उत्तरभारत से उसे उखाड़ फेंक दिया गया, तथापि इस कार्य में लगभग सौ वर्ष लग गये। इसका प्रमाण यह है कि बुन्देलखण्ड में ईसा की १८वीं शताब्दी तक भट्टारकों के ही उपदेश से उनके ही प्रतिष्ठाचार्यत्व में मूर्तिप्रतिष्ठादि कार्य सम्पन्न होते रहे। यह छतरपुर (म.प्र.) के श्री दिगम्बरजैन बड़ा मंदिर में विराजमान भगवान् अजितनाथ की प्रतिमा के पादपीठ पर उत्कीर्ण निम्नलिखित लेख से ज्ञात होता है—

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"सं० १८३९ श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये भट्टारक श्री जनेन्द्रभूषणोपदेशात् परवारवंशोद्भव श्री भारमूर भारिल्ल गोत्रे मंजुदास तद्भार्या खरगो तस्यात्मज सिंघई वच्छरमन तस्य पत्नी श्री रामकुंवर तस्य आत्मज सन्तोष-राय द्वितीय लल्लू तृतीय पूरनमल पौत्र मनराखन नित्यं प्रणमेत छत्रपुरमध्ये वैशाखसुदी १३ गुरौ।" (कमलकुमार जैन : 'जिनमूर्ति-प्रशस्ति-लेख'/ श्री दिगम्बरजैन बड़ामंदिर छतरपुर / क्र.१०२ / पृ. ३८)।

अनुवाद—"संवत् १८३९ (ई० सन् १७८२) में श्री मूलसंघ, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ, कुन्दकुन्दाचार्य-आम्नाय में भट्टारक श्री जिनेन्द्रभूषण के उपदेश से परवारवंशोद्भव श्री भारमूर भारिल्लगोत्र के मंजुदास, उनकी पत्नी खरगो, उनके पुत्र सिंघई वच्छरमन, उनकी पत्नी श्री रामकुँवर, उनके आत्मज सन्तोषराय, द्वितीय आत्मज लल्लू, तृतीय आत्मज पूरनमल्ल और पौत्र मनराखन छतरपुर में, वैशाख सुदी १३, गुरुवार के दिन (प्रतिमा को प्रतिष्ठापित कर) नित्य प्रणाम करते हैं।"

४

तेरापन्थ के उदय की प्रतिक्रिया

उत्तरभारत से भट्टारकपीठों का उन्मूलन करनेवाले तेरापन्थ के उदय से, बचे हुए भट्टारकों तथा उनके उपासकों में विरोध की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने भगवान् महावीर के उपदेश के नाम पर **सूर्यप्रकाश**, **चर्चासागर**, **त्रिवर्णाचार**, **भद्रबाहुसंहिता** आदि तथा आचार्य कुन्दकुन्द एवं उमास्वामी जैसे प्राचीन मूलसंघीय आचार्यों के नाम से **कुन्दकुन्दश्रावकाचार, उमास्वामिश्रावकाचार** आदि कूट (जाली) ग्रन्थ रचकर तेरापन्थानुगामियों की अपशब्दव्यवहार-पूर्वक घोर निन्दा की और अपने द्वारा चलाये मिथ्याधर्म को भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट वास्तविक धर्म बतलाया। माननीय पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने भट्टारकों तथा उनके भक्त पण्डितों द्वारा रचित ऐसे अनेक कूटग्रन्थों की परीक्षा कर उन्हें जाली सिद्ध किया है और **ग्रन्थपरीक्षा** नामक ग्रन्थ के चार भागों में उनकी परीक्षा प्रकाशित की है, जो प्रत्येक जागरूक जैन के लिए पठनीय है। भट्टारकभक्त पं० नेमिचन्द्रकृत **सूर्यप्रकाश** ग्रन्थ में भगवान् महावीर के मुख से भावी मनुष्यों के आचार-विचार, उनकी प्रवृत्तियों, कतिपय धर्मों के प्रादुर्भाव और कुछ घटनाओं आदि का वर्णन यद्वा-तद्वा भविष्य-कथन के रूप में कराया गया है। (सूर्यप्रकाश-परीक्षा / पृ. १९)। इसी प्रसंग में भगवान् के मुख से तेरहपन्थियों को कटु गालियाँ दिलायी गयी हैं। इसकी जानकारी के लिए पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार के **सूर्यप्रकाश-परीक्षा** ग्रन्थ (पृ.४६-६०) से निम्नलिखित अंश उद्धृत किया जा रहा है—

"ग्रन्थ में भगवान् महावीर के मुख से भविष्य कथन के रूप में जो असम्बद्ध प्रलाप कराया गया है वह नं० ३ (शीर्षक) में दिये हुए कुन्दकुन्द के प्रकरण के साथ ही समाप्त नहीं होता, बल्कि दूर तक चला गया है। अगले प्रकरणों को पढ़ते हुए भी ऐसा मालूम होता है मानो भगवान् कहीं-कहीं तो ठीक भविष्य का वर्णन कर रहे हैं और कहीं एकदम विचलित हो उठे हैं और उनके मुख से कुछ का कुछ निकल गया है, कथन का कोई भी एक सिलसिला और सम्बन्ध ठीक नहीं पाया जाता। कुन्दकुन्द-प्रकरण के अनन्तर अगले कथन का जो प्रतिज्ञावाक्य दिया है वह इस प्रकार है—

अथापरं शृणु भूप पञ्चमसमयस्य वै।
वृत्तान्तं भाविकं वक्ष्ये सर्वचिन्तासमाधिना॥ ४९९॥

"इसमें साफतौर पर पंचमकाल के दूसरे भावी वृत्तान्त के कथन की प्रतिज्ञा करते हुए राजा श्रेणिक से उस वृत्तान्त को सुनने की प्रेरणा की गई है। परन्तु इसके अनन्तर ही, भावी वृत्तान्त की बात को भुलाकर, भगवान् ने अभिषेकादि छह क्रियाओं का उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया है। और उसके द्वारा वे खुद ही अपनी पूजा-अर्चा का विधान करने बैठ गये हैं। यहाँ तक कि जपक्रिया के मंत्रों में उन्होंने अपना नाम भी '**सर्वकर्मरहिताय श्रीमहावीरजिनेश्वराय सदा नमः**' इत्यादि रूप से जपने के लिये बतला दिया है। साथ ही अपने परम आराध्य कुन्दकुन्द के नाम का मंत्र देना भी वे नहीं भूले हैं और उन्होंने कुन्दकुन्द के नामवाले मंत्र को तीन बार 'नमोऽस्तु' के साथ जपने की व्यवस्था करके उनके प्रति अपनी गाढ़ श्रद्धा-भक्ति का परिचय दिया है। अभिषेक क्रिया के वर्णन में उन्होंने जल, इक्षुरस, घृत, दुग्ध और दधिरूप पंचामृत से जिनेन्द्र के और इसलिये अपने भी स्नान का विधान ही नहीं किया, बल्कि "**स्नानं कुरुध्वं बुधाः**" (५०८) जैसे वाक्यों द्वारा उसकी साक्षात् प्रेरणा तक की है। साथ ही, उसकी दृढ़ता के लिये ऐसे अभिषेक का फल भी मेरुपर्वत पर देवताओं द्वारा अभिषेक किया जाना आदि बतला दिया है और एक नजीर भी प्रोत्साहनार्थ तथा इस क्रिया को मुख्यता प्रदान करने के लिये दे डाली है, और वह यह कि देवता लोग भी पहले भगवान् का अभिषेक करके पीछे सम्पत्ति को अंगीकार करते हैं, दूसरे कामों में लगते हैं।[१२३] इसी तरह पूजन क्रिया के वर्णन में उन्होंने भगवच्चरणों के आगे जल की तीन धाराएँ छोड़ने, केसर, अगर-कपूर को घिसकर जिन-चरणों पर लेप करने और जिन चरणों के आगे सुन्दर अक्षतों, कुन्द-कमलादि के पुष्पों तथा सर्व प्रकार के पक्वान्न व्यंजनों को चढ़ाने, हजारों घृतपूरित दीपकों का उद्योत करने,

१२३. "इससे यह कथन अगले भविष्यकथन की प्रस्तावना या उत्थानिका की कोटि से निकल जाता है और एक असम्बद्ध प्रलाप के रूप में ही रह जाता है।" (लेखक)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

सुगंधित धूप जलाने और केला आम्रादि फलों को अर्पण करने रूप अष्टद्रव्य से पूजन का विधान ही नहीं किया किन्तु "**एवं बुधोत्तमा जिनपतेः इज्यां कुरुध्वं च भो**" (६२२) जैसे वाक्यों द्वारा उस प्रकार से पूजन की साक्षात् प्रेरणा भी की अथवा आज्ञा तक दी है। साथ ही ऐसे प्रत्येक द्रव्य से पूजन का फल ही नहीं बतलाया, बल्कि इन द्रव्यों से पूजन करके फल प्राप्त करनेवालों की आठ कथाएँ भी दे डाली हैं,[१२४] जिससे इस प्रकार के पूजन की पुष्टि में कोई कोर-कसर बाकी न रह जाय। शेष जप, स्तुति, ध्यान और गुरुमुख से शास्त्रश्रवण[१२५] नाम की क्रियाओं का विधान भी भगवान् ने प्रेरणा तथा फलवर्णना के साथ किया है, परन्तु उनके विषय में भविष्य का कोई खास उल्लेख नहीं किया गया।[१२६] इसके बाद वे फिर से पूर्णाहुति के तौर पर उक्त छहों क्रियाओं का उपदेश देने बैठ गये हैं। और इतने पर भी तृप्त न होकर थोड़ी देर बाद उन्होंने जलगंधाक्षतादि जुदे-जुदे द्रव्यों से पूजन का वही राग पुनः छेड़ दिया है।

"हाँ, बीच-बीच में जब कहीं उन्हें दिगम्बर तेरहपन्थी नजर पड़ गये हैं या उनसे भी चार कदम आगे तारनपन्थी और स्थानकवासी दिखलाई दे गये हैं, तो भगवान् अपने को सभाल नहीं सके, वे आवेश में आकर एकदम उन पर टूट पड़े हैं और समवसरण में बैठे-बैठे ही भगवान् की उनके साथ अच्छी खासी झड़प हो गई है। भगवान् ने उन्हें मूर्ख, मूढ़, कृतघ्न, गुरुनिन्दक, आगमनिन्दक, जिनागमप्रघातक, जैनेन्द्रमतघातक, मदोद्धत, क्रूर, सुबोधलववर्जित, क्रियालेशोज्झित, वचनोत्थापक, मिथ्यात्वपथसेवक, मायावी, खल, खलाशय, जड़ाशय, धर्मघ्न, धर्मबाह्य, कापट्यपूरित, जिनाज्ञालोपक, कुमार्गगामी और अधम आदि कहकर अथवा इस प्रकार की गालियाँ देकर ही सन्तोष धारण नहीं किया, बल्कि उन्हें श्वपचतुल्य (चाण्डालों के समान)

---

१२४. "ये कथाएँ पंचमकाल के भाविक वृत्तान्त के वर्णन में बहुत कुछ असम्बद्ध जान पड़ती हैं, और इनसे यह कथन अगले भविष्यकथन की प्रस्तावना या उत्थानिका की कोटि से और भी ज्यादा निकल जाता है तथा एक प्रलाप के रूप में ही रह जाता है।" (लेखक)।

१२५. "ग्रन्थों का स्वतः स्वाध्याय कर भक्त लोग कहीं भट्टारकों के शासन से निकल न जायँ, उन पर नुक्ताचीनी करनेवाले तेरहपंथी न बन जायँ, इसी से शायद गुरुमुख से शास्त्रश्रवण की यह बात रक्खी गई जान पड़ती है। अनुवादक जी ने '**ग्रन्थान् भव्याः गुरोरास्यात् शृणुध्वम्**' का अर्थ "**ग्रन्थों का स्वाध्याय गुरुमुख से ही श्रवण करना चाहिये**" देकर इसकी मर्यादा को और भी बढ़ा दिया है, परन्तु खेद है कि वे अपने इस वाक्य में प्रयुक्त हुए 'ही' शब्द पर खुद अमल करते हुए नज़र नहीं आते।" (लेखक)।

१२६. "इन क्रियाओं के साथ में भविष्य का कोई वर्णन न रहने से इनका कथन प्रतिज्ञात भाविक वृत्तान्त के साथ और भी असंगत हो जाता है और बिलकुल ही निरर्थक ठहरता है।" (लेखक)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

और सप्तम नरकगामी तथा निगोदगामी तक बतला दिया है। अभिषेक और पूजन-क्रियाओं के सम्बन्ध में भविष्यवर्णना रूप से जो कथन किया गया है वह प्रायः उन्हीं को लक्ष्य करके कहा गया है।[१२७] ये पंचमकाल के (कलियुगी) लोग इन क्रियाओं को नहीं मानेंगे अथवा अमुक विधि से अभिषेक-पूजा नहीं करेंगे, क्रियाओं का उत्थापन

---

१२७. इस प्रकरण के भविष्यवर्णनावाले अधिकांश वाक्य इस प्रकार हैं, जिन्हें पढ़कर विज्ञ पाठक स्वयं जान सकेंगे कि वे तेरहपंथियों आदि को लक्ष्य करके ही लिखे गये हैं—

१. कलौ वै मानवा मूढा चाभिषेकक्रियामिमाम्।
नूनमुत्थापयिष्यन्ति स्वस्वमतिविपर्ययात्॥ ५०९॥
शास्त्राणां वचनं मूर्खा लोपयिष्यन्ति निश्चयात्।
नूतनं नूतनं मार्गं करिष्यन्ति स्वकीर्तये॥ ५१०॥
दास्यन्ति सर्वग्रन्थानां दोषं स्वमतिसम्बलात्।
संस्कृतं प्राकृतं ग्रन्थं वाचयिष्यन्ति नैव च॥ ५११॥
स्वं स्वं कल्पित-वाक्यं च मानयिष्यन्ति ते नराः।
जैनागम-विनिर्मुक्ता आचार्यागम-निन्दकाः॥ ५१२॥
स्वस्वमतस्य पक्षस्य पालका गुरुनिन्दकाः।
कृतघ्नाः ते भविष्यन्ति जैनेन्द्रमतघातकाः॥ ५१३॥

(इनके अनन्तर ही 'द्वितीया च क्रिया प्रोक्ता' इत्यादि रूप से पूजन क्रिया का वर्णन है।)

२. अनेन विधिना भूप कलौ मूढाश्च ये नराः।
करिष्यन्ति जिनेन्द्राणां पूजा नैव मदोद्धताः॥ ६२३॥
तस्मिन् तदुद्भवाः क्रूराः सुबोधलववर्जिताः।
वचनोत्थापकाः स्वस्यागमस्यैव प्रतिश्चयात्॥ ६२४॥

(इनके बाद '**अंगपूर्वानाराधीश स्थास्यन्ति मत्परं खलु**' इत्यादि रूप से भविष्यवर्णना के जो चार श्लोक दिये हैं और श्लोक नं० ६४० तक भूतादिवर्णना को लिये जो वाक्य दिये हैं, उनका प्रस्तावित पूजनक्रिया के साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं है।)

३. कलौ धर्मप्रकाशार्थं सर्वलोकस्य साक्षितः।
नूतनां स्थापनां लोकाः करिष्यन्ति च मायिनः॥ ६४१॥
केचिच्च द्वेषका मर्त्याः केचिच्च सेवकाः खलु।
एवं तस्मिन् भविष्यन्ति कलौ च मगधाधिप॥ ६४२॥
जैनागमसुवाक्येषु ह्यमीषां मगधेश्वर।
निश्चयो न भविष्यति संशयाधीनचेतसाम्॥ ६४३॥
ग्रन्थानां पूजकाः केचित् जिनबिम्बस्य निन्दकाः।
कलौ भेदाह्यनेके च ज्ञातव्या श्रेणिक त्वया॥ ६४४॥

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

करेंगे, नया-नया मार्ग चलाएँगे, शास्त्रों के वचन का लोप करेंगे, ग्रन्थों को दोष लगाएँगे, संस्कृत-प्राकृत के ग्रन्थ नहीं बाँचेंगे, अपनी ही बुद्धि से कल्पित किये (भाषा) ग्रंथों को स्वाध्याय तथा पूजनादि के कार्यों में बर्तेंगे, ग्रंथों के पूजक तथा जिनबिम्बों के निन्दक भी होंगे और जिनात्त-पुरुषों (भट्टारक गुरुओं) तथा साधर्मिपुरुषों की निन्दा करेंगे, इत्यादि कह कर और निन्दा के फलवर्णन की अप्रासंगिक बात उठाकर उसके बहाने उन्हें फिर प्रकारान्तर से खूब कोसा गया है। कहा गया है कि ऐसे निन्दक लोग अगले जन्म में अन्धे, बहरे, गूँगे, कुबड़े, सदा रोगी, विकलांगी, दारिद्री, नपुंसक, कुरूपी, असुरीले, दुःखभोगी, पुत्रपौत्रादि-रहित, सदा शोकी, भाग्यहीन, दुर्बुद्धि, क्रूर, दुष्ट, खल, ज्ञानशून्य-मुन्यादि-वर्जित (साधु आदि के सत्संग-रहित अथवा निगुरे), धर्ममार्गपराङ्मुख, गुणमानविहीन और दूसरों के घर पर नौकर होते हैं (होंगे), प्रतिपच्चन्द्रमा

वसुभूपालवत्स्वस्य मतस्य ते नराः खलाः।
दृढं पक्षं करिष्यन्ति सप्तधावनि दुःखदम् ॥ ६४५॥
जिनात्तपुरुषाणां च केचिच्छ्रद्धानिका नराः।
खला निन्दां करिष्यन्ति जिनागम-प्रघातकाः॥ ६४६॥
पूर्वाचार्यकृतां सर्वामभिषेकादिकां क्रियाम्।
तस्मिन्नुत्थापयिष्यन्ति ते मूढाः पञ्चमोद्भवाः॥ ६४७॥
नूतनां नूतनां सर्वां करिष्यन्ति जडाशयाः।
ते नराश्च क्रियां भूप स्वस्वमतिविकल्पतः॥ ६४८॥
वयं श्रद्धानिका यूयं मिथ्यात्वपथसेवकाः।
मानयिष्यन्ति ते चित्ते क्रियालेशोज्झिताः खलु॥ ६४९॥
स्वधीकल्पितग्रंथान् वै स्वाध्याये पूजनादिके।
कार्ये प्रवर्तयिष्यन्ति नो तद्धिते खलाशयाः॥ ६५०॥
इत्थं जैनेन्द्रधर्मस्य मध्ये भेदोत्कराः खलु।
तस्मिन्नेव भविष्यन्ति स्वस्वमतविनाशकाः॥ ६५१॥

(इनके पश्चात् हुंडावसर्पिणी काल की कुछ घटनाओं का उल्लेख ६६० नम्बर तक है।)

४. साधर्मिपुरुषाणां च निन्दां ते श्रावकाः खलाः।
करिष्यन्ति कलौ भूप निन्दायाः किं फलं भवेत्॥ ६६१॥

(आगे नम्बर ६८१ तक निन्दा का फल दिया है।)

५. ह्येवं सर्वं भविष्यन्ति कलौ भूप न संशयः।
स्वचित्ते मानयिष्यन्ति वयं श्रद्धानिकाः खलु॥ ६८२॥
ग्रन्थलोपजपापेन ते च श्रद्धानिकाः खलु।
नरकावनौ च यास्यन्ति सर्वे हि मगधेश्वर॥ ६८३॥

की तरह (शीघ्र) मर जाते हैं, ८वें, १२वें, १६वें वर्ष तथा जवानी में ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं और इस लोक तथा परलोक में धूर्त[१२८] बन जाते हैं। साथ ही यह भी कहा गया है कि प्राणियों के शरीर में जो भी कष्टदायक दुःख होते हैं वे सब परनिन्दा के फल हैं।[१२९] और जो लोग प्रत्यक्ष में (सामने ही) निन्दा करते हैं उन्हें चाण्डाल के समान समझना चाहिये।[१३०]

"इसके बाद यह दुहाई देते हुए कि ग्रंथों में भद्रबाहु, माघनन्दी, जिनसेन, गुणभद्र, कुन्दकुन्द, वसुनन्दी और सकलकीर्ति आदि योगीन्द्रों के द्वारा पूजा-स्नानादि की वे ही सब क्रियाएँ रक्खी गई हैं, जो वीतराग भगवान् तथा गणधरादिक ने कहीं हैं, यहाँ तक कह डाला है कि उन क्रियाओं का उत्थापन करनेवाले कपटी मनुष्य दुःखों से भरे हुए सातों नरकों में क्यों नहीं जायेंगे? भगवान् के वचन को लोपने से मूढ़, मानी पुरुष निश्चय ही नाना दुःखों की खान निगोदों में पड़ेगे।[१३१]

"अन्त में बहुत कुछ संतप्त होकर भगवान् उन तेरहपन्थियों आदि को सम्बोधित करते हुए उनसे इस प्रकार पूछने और कहने लगे हैं—

"बतलाओ तो सही, किस ग्रन्थ के आधार पर तुमने गृहस्थों की इन छह क्रियाओं (पंचामृत अभिषेक, भगवत् चरणों पर गंधलेपन को लिये हुए सचित्तादि द्रव्यों से पूजा, स्तुति, जप, ध्यान, गुरुमुख से शास्त्रश्रवण) का लोप किया है? यदि तुम्हारे जिनागम

---

१२८. मूल में 'धवाः' पद है और वह यहाँ धूर्तों का वाचक है। हेमचन्द्रादि के कोशों में भी '**धवः धूर्ते नरे पत्यौ**' आदि वाक्यों के द्वारा 'धव' शब्द को धूर्तवाचक बतलाया है। परन्तु अनुवादक-संपादक ब्र० ज्ञानचन्द्र जी महाराज ने अपनी नूतनाविष्कारिणी शक्ति के द्वारा बड़ी निरंकुशता के साथ उसका अर्थ विधुर तथा विधवा कर दिया है और लिख दिया है कि "इस लोक तथा परलोक में विधुर अथवा विधवा हो जाते हैं।" (लेखक)।

१२९. "फलादेश की इस फ़िलासॉफ़ी ने जैनधर्म की सारी कर्म-फ़िलासॉफ़ी को लपेट कर बालाए ताक रख दिया है।" (लेखक)।

१३०. पिछले दोनों वाक्यों के सूचक श्लोक इस प्रकार हैं—
ये ये दुःखाश्च जायन्ते प्राणिनां दुःखदायकाः।
ते ते ज्ञेयाः शरीरेषु परनिन्दाया भो फलम् ॥ ६७९॥
प्रत्यक्षं येऽत्र मूढा वै निन्दां कुर्वन्ति सर्वदा।
ज्ञेयाः श्वपचसा तुल्याः स्वमतस्य क्षयंकराः॥ ६८१॥

१३१. तत्क्रियोत्थापकाः किन्न यास्यन्ति ये च सप्तसु।
श्वभ्रेषु दुःखपूर्णेषु नराः कापट्यपूरिताः॥ ६९४॥
प्रभोर्वाक्यप्रलोपेन ते मूढा मानसंयुताः।
यास्यन्ति वै निकोतेषु नानादुःखकरेषु च॥ ६९८॥

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

की श्रद्धा है तो प्रतिदिन छह क्रियाओं को करो। मूढ़ो! हृदयोक्ति को छोड़ो और वसु राजा की तरह ग्रन्थों का लोप मत करो। अहो मूर्खो! मतिश्रुतावधिनेत्रधारक योगियों ने तो इन अभिषेकादि संपूर्ण क्रियाओं में कोई दोष देखा नहीं, तुम्हारे तो मूढ़ो! मतिज्ञानादि सद्गुण अल्प मात्रा में भी दिखाई नहीं देते, फिर बतलाओ तुम बुद्धिविहीनों ने किस ज्ञान से अभिषेकादि क्रियाओं में प्रदोष देखा है? प्रभु के चरणों पर चन्दनादि से लेप करने में क्या दोष है? दीपक का उद्योत करने में, जिनांकस्थित यक्षों का पूजन करने में, धूप जलाने में, रात्रि को पूजन करने में, जिनात्तपुरुषों (भट्टारकों) के मार्गवर्धक वात्सल्य में, पुष्पसमूह से जिनचरण की पूजा करने में, और केला, आम तथा अंगूरादि फलों से पूजा करने में क्या दोष है? इत्यादि संपूर्ण क्रियाएँ जिननाथ ने आगम में कही हैं, तुमने अपनी मूढ़बुद्धि से उन्हें छोड़ दिया है। अतः तुम जिनेन्द्र की आज्ञा भङ्ग करने वाले और कुमार्गगामी हो, श्राद्ध (श्रद्धावान् श्रावक) नहीं हो, जिनाज्ञा के लोप से निष्फल हो गये हो। जहाँ आज्ञा (आज्ञापालन) नहीं, वहाँ धर्म का लेश भी नहीं, अतः तुम निःसन्देह कुश्रद्धा के पालक हो। अरे! जिनवचन में यदि तुम्हारी दृढ़ श्रद्धा हो, तो अभिषेकादि सत्क्रियाओं को अङ्गीकार करो। मूढ़ो! बतलाओ तो सही, किसकी आज्ञा से तुमने अभिषेकादि मुख्य क्रियाएँ छोड़ी हैं? ग्रन्थ खोलकर दिखलाओ। दुष्टो! बोलो, ग्रन्थों के अनुसार तुमने ये क्रियाएँ छोड़ी हैं या अपनी मति के अनुसार? जिनमुखोत्पन्न ग्रन्थों की आज्ञा तो तीनों लोक में सभी देवेन्द्र, नरेन्द्र, नागेन्द्र और खचरेन्द्र मानते हैं, जिनेन्द्र की आज्ञा के बिना सुरेन्द्र कहीं भी कोई काम नहीं करते, फिर बतलाओ, अरे मर्त्यो! तुमने परम्परा से चली आई इन अभिषेकादि क्रियाओं को कैसे उत्थापित किया है? जिनाज्ञा लोपने की सामर्थ्य तो देवेन्द्रों की भी नहीं होती, मूढ़ो! तुमने कैसे उसका लोप कर दिया? क्या तुम उनसे भी बड़े हो और इसलिये तुमने सर्वेन्द्र-पूज्य प्रभु के वाक्य का उत्थापन कर दिया है? अरे मूर्खो! बोलो, क्या ये सब क्रियाएँ असत्य हैं? यदि असत्य हैं तो फिर सारे ग्रन्थ झूठे ठहरेंगे। तुम्हारे यदि जिनागम की श्रद्धा है, तो फिर आगम वाक्य के अनुसार क्यों नहीं चलते? पक्षपात को छोड़ो और ग्रन्थपक्ष के अनुसार चलो।

''जिन वाक्यों का सार दिया गया है, वे क्रमशः इस प्रकार हैं

भवद्भिः केन ग्रन्थेन वक्तव्यं खलु लोपिताः ।
षट् क्रियाः जिननाथेन इमाः प्रोक्ताश्च गेहिनाम्॥ ६०॥
स्यात् यदि दृढश्रद्धा वै भवतामागमस्य च।
कुरुध्वं जिननाथस्य षट् क्रियां वासरं प्रति॥ ६१॥
त्यजध्वं हृदयोक्तिं च वसुभूपालवत् खलु।
ग्रन्थानां लोपनं मूढा मा कुरुध्वं मतापहम्॥ ६२॥

मतिश्रुतावधिनेत्रधारकाणां च योगिनाम्।
गृहस्थधर्मव्याख्यानं कुर्वतां च विमानिनाम्॥ ६३॥

तेषां नैव ह्यहो मूर्खा दोषो दृष्टोकिमप्यहो।
अभिषेकादिसर्वासु क्रियासु विदितेषु वै॥ ६४॥

भवतां नैव भो मूढा मतिज्ञानादिसद्गुणाः।
चाल्यमात्रापि दृश्यन्ते सर्वद्वापरनाशकाः॥ ६५॥

वक्तव्यं केन ज्ञानेन भवद्भिः मतिवर्जितैः।
किं दृष्टश्च प्रदोषो वै अभिषेकादिषु खलु॥ ६६॥

दोषः किंस्यात्प्रभोः पादलेपनेचन्दनादिभिः।
दीपस्योद्योतने किं च जिनाङ्क्यक्षपूजने ॥ ६७॥

धूपोत्करस्य दहने निशायाः पूजने तथा।
जिनात्तपुरुषाणां च वात्सल्ये मार्गवर्द्धके॥ ६८॥

पुष्पोत्करैः जिनेन्द्रस्य पादाम्बुजपूजने खलु।
केलाम्रगोस्तनी चान्यत्फलोत्करैः प्रपूजने॥ ६९॥

इत्याद्या याः क्रियाः सर्वा जिननाथेन वर्णिताः।
आगमे तत् भवद्भिश्च त्यक्ता भो मूढबुद्धितः॥ ७०॥

अतः यूयं जिनेन्द्रस्य आज्ञाघ्नाश्च कुमार्गगाः।
न श्राद्धा निःफला जाता जिनाज्ञालोपतः खलु॥ ७१॥

यत्राज्ञा न च तत्रापि धर्मलेशोऽपि नास्ति वै।
अतो यूयं कुश्रद्धायाः पालकाश्च न संशयः॥ ७२॥

यदि स्यात् दृढश्रद्धा वै भवतां तद्वचनस्य च।
तदा ह्यंगीकुरुध्वं भो स्नपनादिसत्क्रियाम्॥ ७३॥

आख्यापयथ मूढाः कस्याज्ञया स्नपनादिकाः।
यूयं त्यक्ताः क्रिया मुख्या ग्रन्थपक्षं प्रदर्श्यथ॥ ७४॥

ग्रन्थानुसारतः त्यक्ताः वदध्वं च क्रियाः खलाः।
इमे यूयं तथा किं च स्वमतेः सारतः खलु॥ ७५॥

जिनानन-समुत्पन्न-ग्रन्थाज्ञां भुवने त्रये।
देवेन्द्रा वा नरेन्द्राश्च नागेन्द्राः खचरेश्वराः॥ ७६॥

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

सर्वे ते मानयन्त्येव निःशंङ्कां निखिलार्थदाम्।
मतिश्रुतावधि-श्लिष्ट-शुद्ध-दृग्धारकाः खलु॥ ७७॥

क्वचिदपि जिनेन्द्रस्य चाज्ञा ऋते सुरेश्वराः।
न कुर्वन्त्यपरं कार्यं नानाभवप्रदायकम्॥ ७८॥

यूयं वदथ भो मर्त्याः पारम्पर्यात्समागताः।
भवद्भिरभिषेकाद्याः कथमुत्थापिताः खलु॥ ७९॥

सुरेन्द्राणामपि नैव सामर्थ्यं स्यात्कदाचन।
जिनाज्ञालोपने मूढाः भवद्भिः लोपिताः कथम्॥ ८०॥

यूयं तदधिकाः किं वै अतः उत्थापितं प्रभोः।
वाक्यं सर्वेन्द्रपूज्यं च सर्वत्रापि निरंकुशम्॥ ८१॥

वदध्वं पुनः भो मूर्खा ह्यसत्याः स्युरिमाः क्रियाः।
सर्वे ग्रन्था असत्याः स्युः सर्वसन्देहनाशकाः॥ ८२॥

युष्माकं यदि श्रद्धा स्यात् दृढा जिनागमस्य वै।
तदा किं न कुरुध्वं भो तत् वाक्यं शिवदायकम्॥ ८३॥

पक्षपातं त्यजध्वं च ग्रन्थपक्षं जगन्नुतम्।
यूयं श्रद्धानिका नित्यं कुरुध्वं धर्मसिद्धये॥ ८४॥

(सूर्यप्रकाश / पृ. १६३ से १६७)

"पाठकजन! देखा, कितनी भारी झड़प का यह उल्लेख है! इसी तरह का और भी कितना ही संघर्षात्मक कथन है, जो भट्टारकों को, ग्रन्थकार के शब्दों में जिनाप्तपुरुषों को, गुरु न मानने से सम्बन्ध रखता है, जिसमें भट्टारकों को गुरु न मानने वालों को सप्तम नरकगामी तक बतलाया है,[१३२] और जिसे यहाँ छोड़ा जाता है। अस्तु, इतनी खैर हुई कि ग्रन्थकार ने उत्तर में तेरहपन्थियों को कुछ बोलने नहीं दिया, नहीं तो समवसरण सभा का रंग कुछ दूसरा ही हो जाता और इस तरह से निरर्गल बोलने तथा पूछनेवाले भगवान् के ज्ञान-विज्ञान की सारी कलई खुल जाती।

"इस प्रकार ग्रन्थकार ने अपनी इस कृति द्वारा भगवान् महावीर जैसे परम वीतरागी और ब्रह्मज्ञानी पूज्य महान् पुरुष को एक अच्छा खासा पागल, विक्षिप्तचित्त, अविवेकी, कषायवशवर्ती और कलुषितहृदय, क्षुद्रव्यक्ति प्रतिपादित किया है। उसका यह घोर अपराध

---

१३२. येऽधमा नैव मन्यन्ते गुरुं ज्ञानस्य दायकम्।
ते यास्यन्ति न संदेहः सप्तमे श्वभ्रकूपके॥ पृ. १७७॥

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

किसी तरह भी क्षमा किये जाने के योग्य नहीं है। एक स्वार्थसाधू पामर मनुष्य अपनी स्वार्थसाधना में अंधा होकर और कषायों में डूब कर जाने-अनजाने पूज्यपुरुषों तक को कितना नीचे गिरा देता है, यह इस प्रकरण से बहुत कुछ स्पष्ट है, जिसमें यहाँ तक चित्रित किया गया है कि भविष्य में एक खास ढंग से अभिषेक-पूजा को न होते हुए देखकर भगवान् एकदम बिगड़ बैठे हैं! ग्रन्थकार ने अपनी कुत्सित वासनाओं और कषायभावनाओं को चरितार्थ करने के लिये भगवान् महावीर के पवित्र नाम का आश्रय लिया है, उसे अपना आला अथवा हथियार बनाया है, अर्थात् बातें अपनी, कहने का ढंग अपना और नाम भगवान् महावीर का! उसकी इस कृति में साफतौर पर भट्टारकानुगामियों की तेरहपंथियों के साथ युद्ध की वही मनोवृत्ति काम करती हुई दिखलाई दे रही है, जैसा पहले लेख में उल्लेख किया जा चुका है। इसके सिवाय इस सारे वर्णन में और कुछ भी सार नहीं है। भगवान् महावीर जैसे परम विवेकी और परमसंयमी आप्तपुरुषों का ऐसा असम्बद्ध, सदोष और कषायपरिपूर्ण वचनव्यवहार नहीं हो सकता। ऐसे वचनों अथवा ग्रन्थों को जिनवाणी कहना, जिनमुखोत्पन्न बतलाना, जिनवाणी का उपहास करना है। यदि सचमुच जिनवाणी का ऐसा ही रूप हो, तो उसे कोई भी सुशिक्षित और सहृदय मानव अपनाने के लिये तैयार नहीं होगा।

"इसके सिवाय, किसी भी सभ्य मनुष्य को यह बात पसंद नहीं आती कि वह अपनी पूजा-प्रशंसा के लिये दूसरों को साक्षात् प्रेरणा करे, फिर मोहरहित वीतरागी आप्तपुरुषों की तो बात ही निराली है। उन्हें वीतराग होने के कारण पूजा-प्रशंसा से कोई प्रयोजन ही नहीं होता, जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के '**न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे**' जैसे वाक्य से प्रकट है। उनके द्वारा इस तरह विस्तारपूर्वक और लड़-झगड़कर अपनी पूजा-अर्चा का विधान नहीं बन सकता। स्वामी पात्रकेसरी ने तो अपने स्तोत्र में '**त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिताः किन्तु तास्त्वयि प्रसृतभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः**' जैसे वाक्य द्वारा स्पष्ट बतला दिया है कि केवलज्ञानी भगवान् ने इन पूजनादि क्रियाओं का उपदेश नहीं दिया, किन्तु भक्त श्रावकों ने स्वयं ही (अपनी भक्ति आदि के वश होकर) उनका अनुष्ठान किया है, उन्हें अपने व्यवहार के लिये कल्पित किया है। और यह बहुत कुछ स्वाभाविक है।[१३३] ऐसी हालत में भगवान् महावीर के मुख से जो कुछ यद्वा-तद्वा अपनी इच्छानुकूल कहलाया गया है और उसमें तेरहपन्थियों आदि के प्रति जो अपशब्दों का व्यवहार किया गया है, उससे भगवान् महावीर का कोई सम्बन्ध नहीं है, उनका जरा भी उसमें हाथ नहीं है, वह सब वास्तव में ग्रन्थकार

१३३. "इस विषय के विशेष विवेचनादि के लिये लेखक की उस लेखमाला को देखना चाहिये, जो कुछ वर्ष पहले 'उपासना-विषयक समाधान' नाम से 'जैनजगत्' में प्रकट हुई थी।"

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

के संतप्त एवं आकुल हृदय का प्रतिबिम्ब है, उसकी अपनी चित्तवृत्ति का रूप है, और इसलिए उसकी निजी कृति है। अपनी कृति को दूसरे की प्रकट करना अथवा उसके विषय में ऐसी योजना करना, जिससे वह दूसरे की समझ ली जाय, इसी का नाम जालसाजी है और इस जालसाजी से यह ग्रन्थ लबालब भरा हुआ है। इसलिए इसे जाली कहने में जरा भी अत्युक्ति नहीं है।

"अपनी इस कृति पर से ग्रन्थकार पंडित नेमिचन्द्र इतना मूर्ख मालूम होता है कि उसे ग्रन्थरचना के समय इतनी भी तमीज (विवेक-परिणति) नहीं रही है कि मैं कहना तो क्या चाहता हूँ और कह क्या रहा हूँ! वह कहने तो चला भगवान् महावीर के मुख से निकला हुआ अविकल भाविक वृत्तान्त और सुना गया अपने संतप्त हृदय की बेढंगी दास्तान। जिस पर-निन्दा की उसने इतनी बुराई की और जिसका इतना भारी भयङ्कर परिणाम बतलाया, उसी को उसने खुद अपनाया है और उससे उसका ग्रन्थ भरा पड़ा है। क्या दूसरों को उपदेश देना ही पंडिताई का लक्षण है, खुद अमल करना नहीं?" (सूर्यप्रकाश-परीक्षा / पृ.४६-६०)।

५

भट्टारकों के स्वरूप में कालकृत परिवर्तन

भट्टारकों का राजसी ठाठ-बाटमय, श्रावकशोषक, निरंकुश रूप देश की स्वतन्त्रता के पूर्व तक बना रहा, क्योंकि पं० नाथूराम जी प्रेमी ने स्वसम्पादित मासिक पत्रिका **जैनहतैषी** के वीर नि० सं० २४३७ (ई० सन् १९१०) तथा २४४१ (ई० सन् १९१४) के अंकों में तथा सन् १९४१ में लिखित **भट्टारकचर्चा** नाम की पुस्तक में अपने नाम का उल्लेख न करनेवाले लेखक ने अपने समय में विद्यमान भट्टारकों के उपर्युक्त स्वरूप का वर्णन किया है। (देखिये, इसी अध्याय का प्रकरण ४ / शीर्षक ४.५)।

देश के स्वतंत्र होने के बाद राजाओं का युग समाप्त हो गया, तब भट्टारकों के भी राजसी वेश का कोई महत्त्व नहीं रहा। वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप कार-वायुयान आदि वाहनों का आविष्कार हो जाने से घोड़े, पालकी आदि वाहन पुराने और पिछड़े प्रतीत होने लगे, जिससे भट्टारकों ने इनका भी प्रयोग बन्द कर दिया और कार-वायुयान आदि में विहार करने लगे। लोकतंत्र की स्थापना से श्रावकों पर अत्याचार भी मुश्किल हो गया। इस प्रकार काल के प्रभाव से भट्टारकों के स्वरूप में किसी हद तक सुधारात्मक परिवर्तन हुआ है, तथापि एक श्रवणबेलगोल को छोड़कर भट्टारकों द्वारा प्रबन्धित तीर्थों और मन्दिरों की व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं है।

धर्ममंगल नामक मराठी पाक्षिक पत्रिका की विदुषी सम्पादिका सौ० लीलावती जैन ने सन् १९९७ ई० में सभी वर्तमान भट्टारकपीठों की यात्रा कर कुछ के विषय

में अपनी प्रतिक्रिया 'धर्ममंगल' के १६ मई, १९९७ के अंक में प्रकाशित की थी, जिसका सारांश स्व० अजितप्रसाद जी जैन द्वारा सम्पादित **शोधादर्श-३४** (मार्च, १९९८) में वर्णित किया गया है। 'धर्ममंगल' की सम्पादिका ने अनेक भट्टारकपीठों के अधिकार में रहनेवाली धर्मशालाओं, छात्रावासों, ग्रन्थालयों और विद्यापीठों को घोर अव्यवस्था से ग्रस्त देखा है। किसी मठ से प्राचीन जैनप्रतिमाओं, ग्रन्थों और सोने-चाँदी के भारी उपकरणों के नदारद होने की जानकारी प्राप्त की है। किसी मठ के भट्टारक स्वामी के कामकाण्डों की स्थानीय समाचारपत्रों में चर्चायें पढ़ी हैं।

मेरा भी कुछ ऐसा ही अनुभव है। मैंने एक मठ के भट्टारक जी को अपने देशी-विदेशी जजमानों के साथ दर्शन, भोजन, आवास, रात्रि को रसपान, वाहन-व्यवस्था आदि में पक्षपात करते हुए पाया है। आदर्श व्यवस्था केवल श्रवणबेलगोल के मठ में दृष्टिगोचर हुई है। वहाँ के भट्टारक श्री चारुकीर्ति जी, न केवल सुप्रबन्धक हैं, अपितु विद्वान्, विद्वत्प्रेमी एवं सौम्य भी हैं। उन्होंने आधुनिक एवं तकनीकी शिक्षा के विविध संस्थान एवं जैनविद्या-अनुसन्धान केन्द्र खोलकर वहाँ का जो विकास किया है और साधनहीन जैन छात्रों के उत्थान का जो पथ प्रशस्त किया है, वह स्तुत्य है।

६

जिनशासन में मिलावट को रोकना आवश्यक

किन्तु प्रश्न सुप्रबन्ध या विकास का नहीं है, प्रश्न है निर्ग्रन्थ-जिनशासन में एक सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ के तुल्य गुरु की मान्यता दिये जाने और दिलाये जाने का तथा पिच्छी-कमण्डलु ग्रहणकर एवं कराकर आगमज्ञानरहित लोगों में यह विश्वास पैदा किये जाने का कि उक्त मान्यता आगमोक्त है। निर्ग्रन्थ-जिनशासन में यह मिलावट जिनशासन के मूलस्वरूप को नष्ट करने का प्रयास है, मोक्षमार्ग को अमोक्षमार्ग बना देने की चेष्टा है, महावीर के उपदेश के साथ धोखाधड़ी है, न केवल महावीर के उपदेश के साथ धोखाधड़ी, बल्कि मोक्ष के समीचीन मार्ग की तलाश करनेवाले मोक्षार्थियों के साथ भी यह उनकी श्रद्धा को मिथ्या बनाकर उन्हें उन्मार्ग पर ढकेलने की फितरत है। वस्तुतः यह जिनशासन के साथ शत्रुता का बर्ताव है। इस मिलावट का परित्याग ही जिनशासन की सच्ची रक्षा और सेवा हो सकती है। इससे ही भट्टारकपीठों के अनुशासन में रहनेवाले श्रावक, भट्टारकों द्वारा किये जानेवाले शोषण एवं निरंकुशता से छुटकारा पा सकते हैं तथा भट्टारक भी चरित्रभ्रष्ट होने से बच सकते हैं।

किन्तु इतनी फितरत से प्राप्त हुई गुरुरूप, बल्कि जगद्गुरुरूप मान्यता को कोई भी भट्टारक स्वेच्छा से त्यागने को तैयार नहीं होगा, क्योंकि मोक्षार्थी के अतिरिक्त

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो अपने राजसी ठाठबाट एवं प्रभुत्व को स्वेच्छा से त्याग देगा? और यदि कोई भट्टारक त्यागना भी चाहे, तो अन्य भट्टारक उसे ऐसा नहीं करने देंगे, क्योंकि फिर उनसे भी ऐसी अपेक्षा की जायेगी। तथा जिन मुनिसंघों और पण्डितों के स्वार्थ भट्टारकपरम्परा से जुड़े हुए हैं, वे भी उसे ऐसा करने से रोकेंगे। यह अच्छी बात है कि भट्टारक, मुनियों को अपना गुरु मानते हैं, किन्तु बुरी बात यह है कि वे श्रावकों से अपने को भी गुरु मनवाते हैं और कुछ मुनिसंघ भी भट्टारकों की पीठ थपथपाते हैं तथा चाहते हैं कि श्रावक उन्हें भी गुरु मानें, उनके अनुशासन में रहें। ऐसे ही मुनियों के द्वारा आज यह आवाज उठायी जा रही है कि उत्तरभारत में पुनः भट्टारपीठों की स्थापना की जाय। इस आवाज के पीछे क्या रहस्य है, इसका बोध एक वर्तमान आचार्य श्री दयासागर जी के वक्तव्य से होता है। **शोधादर्श**-३४ (मार्च, १९९८) के सम्पादक श्री अजित प्रसाद जी जैन ने अपने सम्पादकीय में लिखा है—

''दिगम्बर जैन आचार्य श्री दयासागर ने विगत वर्ष अपना चातुर्मास श्री दिगम्बर सिद्धक्षेत्र कोठी पावागढ़ (गुजरात) में स्थापित किया था। अपने चातुर्मास स्थल से उन्होंने ''श्री दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्रों की रक्षा कैसे हो'' शीर्षक से एक परिपत्र प्रसारित किया था, जो सम्बोधित तो श्रवणबेलगोला मठ के भट्टारक स्वस्ति श्री चारुकीर्ति स्वामी जी को था, पर जिसकी प्रतियाँ अन्यों को भी प्रेषित की गयी थीं। इसकी एक प्रति हमको भी प्राप्त हुई थी। इस परिपत्र में आचार्यश्री ने उत्तरभारत में दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्रों की वर्तमान में दुर्व्यवस्था और कुप्रबन्ध पर घोर चिन्ता प्रकट करते हुए इसके लिए उनके असंयमी गृहस्थ-प्रबन्धकों को जिम्मेदार ठहराया है, जो ''क्षेत्र के रक्षक के रूप में भक्षक बन बैठे हैं, क्षेत्र की सम्पत्ति व आय को हड़प रहे हैं, उसका दुरुपयोग कर रहे हैं। क्षेत्रों पर ईमानदार पुजारी व मैनेजर देखने को नहीं मिलते, क्षेत्रों की धर्मशालाएँ लॉज का रूप ले रही हैं, जहाँ हर प्रकार के पापकर्म होने लगे हैं, क्षेत्रों पर विवाह-शादी सम्पन्न कराये जाने लगे हैं, हनीमून भी मनाये जाने लगे हैं। तीर्थों की मर्यादा, पवित्रता व शुद्धता समाप्त हो रही है तथा अतिशय घट रहे हैं। जैनागम में, समाज में दिगम्बर साधुओं का तीर्थों पर रहकर आत्मसाधना करने की बात कही जाती है, पर साधु क्षेत्र पर रहे कैसे? असंयमियों ने क्षेत्रों पर असंयम का इतना विस्तार कर रखा है कि संयमी को वहाँ भी आत्मसाधना करना मुश्किल हो गया है। **क्षेत्रों पर साधुओं के ठहरने का कोई उचित स्थान नहीं है।** यदि कहीं त्यागी-सन्त-निवास का निर्माण किया भी गया है, तो असंयमियों ने उस पर कब्जा जमा लिया है। यदि किसी साधु ने क्षेत्र पर रहना चाहा, उसे उसके कटु अनुभव झेलने पड़े। **क्षेत्र पर साधुओं के आहार-पानी की भी समुचित व्यवस्था नहीं हो पाती** ---।''

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"इन सभी समस्याओं के हल के लिए आचार्यश्री ने सुझाव दिया है कि "सभी जैन तीर्थों पर बालब्रह्मचारी, गृहत्यागी, व्रती, धर्मात्मा, विद्वान्, मुनिभक्त, ईमानदार भट्टारकों की स्थापना होनी चाहिए, ताकि तीर्थों पर साधुसन्त शान्ति से ठहरकर अपनी आत्मसाधना कर सकें, तीर्थों का भी संरक्षण हो सके, पुरातन जिनालयों का जीर्णोद्धार हो सके तथा समाज व धर्म का भी विकास हो सके।" (शोधादर्श-३४/पृ. १५-१६)।

आचार्य दयासागर जी के इन विचारों पर टिप्पणी करते हुए सम्पादक जी लिखते हैं—"आचार्यश्री ने जिस प्रकार के भट्टारक-स्वामियों को तीर्थक्षेत्र पर स्थापित करने का सुझाव दिया है, वे आयेंगे कहाँ से, यह हमारी अल्प बुद्धि में नहीं आता। **वैसे भी इतिहास साक्षी है कि मठाधीश हो जाने पर कोई भी साधु नहीं रह जाता।**" (वही)।

आचार्य जी के उपर्युक्त वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि वे सभी तीर्थक्षेत्रों पर भट्टारकपीठों की स्थापना इसलिए चाहते हैं कि वहाँ पर उन जैसे साधुओं के ठहरने और आहार-पानी की समुचित व्यवस्था हो सके, जिससे वे वहाँ महीनों ठहरकर शान्ति से आत्मसाधना कर सकें। आचार्य जी को विश्वास है कि ऐसी व्यवस्था तीर्थों पर भट्टारकपीठों की स्थापना से ही संभव है। इससे स्पष्ट होता है कि तीर्थों पर आवास और आहार-पानी की सुविधा चाहनेवाले मुनि भी किसी भट्टारक को, उसे उपलब्ध गुरु की मान्यता का परित्याग नहीं करने देंगे। इसी प्रकार जिन पण्डितों को भट्टारकों से पुरस्कार, उपाधियाँ और सम्मान प्राप्त होते हैं, वे भी उन्हें ऐसा करने से रोकेंगे। अतः भट्टारकों के द्वारा स्वयं ही गुरु की मान्यता का विसर्जन अर्थात् जिनशासन में की गयी मिलावट का परित्याग संभव नहीं है। इसलिए इस मिलावट को दूर करने का एक ही उपाय है- श्रावकों को प्रबोधित करना। पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखकर, छोटी-छोटी पुस्तकें प्रकाशित और वितरित कर तथा भाषण और प्रवचन कर श्रावकों को '**विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः**' (र.का.श्रा.) इत्यादि शास्त्र-वचनों के प्रमाण देकर गुरु के लक्षण समझाने होंगे, तथा बतलाना होगा कि भट्टारक सवस्त्र, आरम्भी, परिग्रही और विषयाशाधीन होते हैं, अतः वे गुरु नहीं हैं। इसलिए उन्हें न तो 'नमोऽस्तु' किया जाय, न उनके चरण छुए जायँ। वे क्षुल्लक और एलक भी नहीं हैं, अतः उन्हें 'इच्छाकार' (इच्छामि) भी न किया जाय। उन्हें केवल '**जय जिनेन्द्र**' किया जाना चाहिए। श्रावकों को यह भी समझाना होगा कि भट्टारकों को 'स्वामी', 'गुरु' या 'जगद्गुरु' शब्दों से भी सम्बोधित न किया जाय तथा उनके किसी उपदेश या परामर्श को शास्त्रसम्मत होने पर ही स्वीकार किया जाय, अन्यथा अस्वीकार कर दिया जाय। इस तरह श्रावकों को प्रबोधित करते रहने पर धीरे-धीरे सभी श्रावक सत्य को समझेंगे और भट्टारकों को गुरु मानना छोड़ देंगे। तब उनकी गुरुमान्यता स्वतः

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

समाप्त हो जायेगी। ईसा की १७वीं शताब्दी में उत्तरभारत में पं० बनारसीदास जी आदि विद्वानों ने इसी विधि से भट्टारकपीठों का उन्मूलन किया था।

वस्तुतः भट्टारकपीठों के कायम रहने में बुराई नहीं है, बुराई है भट्टारकों की गुरुरूप-मान्यता में। इस मान्यता ने ही भट्टारकों को राजाओं के समान ठाठ-बाट से जीवन व्यतीत करनेवाला और श्रावकों का निरंकुश स्वामी बना दिया, जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने श्रावकों का अत्याचारपूर्वक शोषण किया। अतः पुराने भट्टारकपीठ कायम रहें, और जहाँ आवश्यक हों, नये भी स्थापित किये जायँ, किन्तु भट्टारकों की गुरुवत् मान्यता समाप्त की जाय, गुरु के प्रतीकभूत पिच्छी और कमण्डलु का भी उनसे परित्याग कराया जाय, श्रावकों पर उनका धार्मिक अनुशासन भी न रहे। वे केवल तीर्थ के प्रबन्धक और रक्षक के कर्त्तव्य निभायें। इसके लिए उन्हें यथोचित वेतन दिया जाय। इससे भट्टारकों के अस्तित्व पर किसी को भी आपत्ति नहीं होगी।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in